शिक्षक संदर्शिका

शिक्षा सिद्धान्त

प्रथम प्रश्न-पत्र

(बी० टी० सी० के नवीन संशोधित द्विवर्षीय
पाठ्यक्रमानुसार)

NIEPA DC
D00342

वर्ष–1981

राज्य शिक्षा संस्थान, उ० प्र०, इलाहाबाद

प्राक्कथन

राष्ट्रीय विकास की धारा में शिक्षा विशेषतया प्राथमिक स्तरीय शिक्षा के स्तरोन्नयन एवं गुणात्मक विकास की महत्वपूर्ण समस्या के प्रति शिक्षा विभाग अधिक जागरुक एवं क्रियाशील है। एक सुविज्ञ, कुशल एवं प्रशिक्षित शिक्षक के द्वारा ही शिक्षा को मौलिक जीवन प्राप्त होता रहता है। फलस्वरूप शिक्षा की नवीन प्रवृत्तियों, विधाओं एवं कतिपय आधारभूत व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रख कर नवीन संशोधित द्विवर्षीय बी० टी० सी० पाठ्यक्रम को वर्ष 1980–81 से इस प्रदेश में प्रभावी किया गया है।

वस्तुतः प्रचलित पाठ्यक्रम के नवीन पक्षों तथा प्रशिक्षणिक तथ्यों से शिक्षक प्रशिक्षक अवगत हो सकें और वे शिक्षा की अभिनव भूमिका के निर्वहन में अपेक्षाकृत अधिक कार्य–सक्षम बन सकें, इस आशय से संदर्भित पाठ्य क्रमाधारित प्रथम तथा द्वितीय वर्ष विषयक समस्त पांचों प्रश्न–पत्रों से सम्बन्धित संदर्शिकाओं का अलग–अलग निर्माण किया गया है।

यह विशेष रूप से विचारणीय है कि इस प्रस्तुत संदर्शिका में प्रशिक्षण विज्ञान (सैद्धान्तिक) के [illegible] प्रश्न–पत्र 'शिक्षा सिद्धान्त' (प्रथम वर्ष) के परिप्रेक्ष्य में उल्लेखनीय प्रकरणों पर प्रकाश डाला गया है यथा,–––– शिक्षा के तात्पर्य, महत्व एवं उद्देश्य, शिक्षा की दार्शनिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि, शिक्षा के विविध रूप और अभिकरण, शिक्षाविदों के शिक्षा सम्बन्धी विचार, बेसिक शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त और उसका बदलता स्वरूप तथा प्रारम्भिक स्तर पर पाठ्यक्रम निर्माण के सिद्धान्त।

इस संदर्शिका के सृजन हेतु दो कार्यशालायें आयोजित की गई, जिसमें राज्य शिक्षा संस्थान, इलाहाबाद तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं के प्रबुद्ध सदस्यगण ने सराहनीय योगदान किया है। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूं।

यह संदर्शिका मात्र दिशा निर्देशन करती है न कि दिशाओं को बांधती है। इसके सुधार हेतु शिक्षक–प्रशिक्षकों एवं शिक्षाविदों से प्राप्त सुझावों का स्वागत किया जायेगा।

पृथ्वीराज चौहान,
शिक्षा निदेशक,
उत्तर प्रदेश।

दिनांक 10–9–81

विषय-सूची

पाठ	पृष्ठ-संख्या
1—शिक्षा का अर्थ, आवश्यकता एवं महत्व	1–5
2—शिक्षा के स्वरूप के निर्धारक तत्व—दर्शन, मनोविज्ञान तथा समाज ..	6–12
3—शिक्षा के विविध रूप और अभिकरण—औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, सहज शिक्षा तथा वर्तमान शिक्षा में इनका योगदान ..	13–19
4—शिक्षा के उद्देश्य—वैयक्तिक तथा सामाजिक	20–25
5—निम्नलिखित शिक्षाविदों के शिक्षा सम्बन्धी विचार—प्लेटो, रूसो, जौन डिवी, रवीन्द्र नाथ टैगोर, अरविन्द तथा महात्मा गांधी	26–42
6—बेसिक शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त और उसका बदलता स्वरूप ..	43–50
7—वर्तमान भारतीय शिक्षा के उद्देश्य—आधुनिक सन्दर्भ में व्यक्ति एवं समाज का सर्वांगीण विकास, समष्टि जीवन का महत्व, समष्टि जीवन में व्यक्तिगत हित की अपेक्षा समष्टि हित अधिक महत्वपूर्ण, लोकतंत्र, समाजवाद एवं धर्म-निरपेक्षता में आस्था उत्पन्न करना, आर्थिक व्यवस्था का सुदृढ़ीकरण, वैज्ञानिक एवं तकनीकी दृष्टिकोण का निर्माण आदि	51–55
8—प्रारम्भिक स्तर पर पाठ्यक्रम निर्माण के सिद्धान्त—बालक का सन्तुलित सम्यक बौद्धिक विकास, बालक की व्यक्तिगत रुचि, सहयोग तथा सामाजिकता की भावना, स्वस्थ राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास, सामाजिक समृद्धि, विषयों में सह-सम्बन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना आदि ..	56–60
संदर्भ पुस्तकें—	60–61

पाठ--1

शिक्षा का अर्थ, आवश्यकता एवं महत्व

शिक्षा का तात्पर्य एवं क्षेत्र--शिक्षा एक ऐसा ज्ञान है जो हिमालय के समान ऊंचा, सागर के समान गम्भीर और पृथ्वी के समान विस्तृत है अनन्तकाल से मनुष्य कुछ न कुछ बराबर सीखता चला आ रहा है। यह एक अनवरत आगे चलने वाली प्रक्रिया है जिसे प्रत्येक पीढ़ी आने वाली पीढ़ी को प्रत्येक समाज अपने बाद आने वाले समाज को शिक्षा हस्तान्तरित करता आ रहा है। अब प्रश्न उठता है शिक्षा का क्षेत्र क्या है ? परिवार, विद्यालय, समाज तथा राष्ट्र शिक्षा का क्षेत्र है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण संसार ही शिक्षा का क्षेत्र है।

शिक्षा का शाब्दिक अर्थ, व्यापक अर्थ एवं संकुचित अर्थ

शिक्षा का शाब्दिक अर्थ--शिक्षा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के शिक्ष धातु से हुई है जिसका अर्थ है प्रकाशित करना। शिक्षा को अंग्रेजी भाषा में एजूकेशन (Education) कहते हैं। एजूकेशन की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द एजूकेटम (Educatum) से हुई है। जिसका अर्थ शिक्षित करना है। ई (E) का अर्थ है अन्दर से और ड्यू का (Duco) का अर्थ है आगे बढ़ाना। इस प्रकार एजूकेशन या शिक्षा का शाब्दिक अर्थ मानव की अन्तर्निहित शक्तियों को आगे बढ़ाना या उनका विकास करना है।

शिक्षा का व्यापक अर्थ--व्यापक अर्थ में शिक्षा जीवन भर चलने वाली सद्उद्देश्य प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति की शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि शक्तियों का चतुर्मुखी विकास होता है। इस विकास से उसका स्वयं का विकास होता है साथ ही वह जिस समाज या वातावरण में रहता है उसका उत्कर्ष होता है।

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मानव को इस योग्य बनाना है कि वह अपने वातावरण के साथ सामायोजन कर सके। बालक जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। मानव अपने घर, परिवार, समुदाय एवं समाज आदि से प्राप्त अनुभव के आधार पर ही योग्यता अर्जित करता है जो शिक्षा का मुख्य आधार है। ये अनुभव जितने तीव्र गति से होंगे शिक्षा प्राप्त करने की गति भी उतनी ही तीव्र होगी। मानव का उसके वातावरण से जितना अधिक समायोजन होगा वह उसका उतना ही समाजोपयोगी अंग बनेगा। उसके अन्दर आत्मविश्वास एवं आत्मनिर्भरता जैसी बहुमूल्य शक्तियों का विकास होगा। मानव पशु से इसी कारण श्रेष्ठ है कि उसकी शिक्षा ग्रहण करने में सहायक ज्ञानेन्द्रियां गति में तीव्र हैं। शिक्षा पशु भी ग्रहण करता है परन्तु उसका ग्रहणीय अनुपात मानव से बहुत कम है। मानव की शिक्षा ग्रहण करने की शक्ति की तीव्रता के कारण ही मानव को "ईश्वर की श्रेष्ठतम कृति" (The best creation of God) कहा गया है।

बच्चे की प्रथम पाठशाला उसका घर एवं परिवार है तथा उसकी प्रथम शिक्षिका उसकी माता है। शिक्षा की प्रक्रिया के तीन मुख्य स्तम्भ हैं--शिक्षार्थी, शिक्षक एवं प्रस्तुत पर्यावरण। इन तीनों का ही समुचित समायोजन शिक्षा है। यदि विस्तृत दृष्टिकोण से देखा जाय तो सम्पूर्ण संसार ही बालक की पाठशाला है। शिक्षा को जीवन का साध्य भी कहा जा सकता है। शिक्षा ग्रहण करने के केन्द्रों के भी निर्धारित स्थान नहीं हैं। मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पग-पग पर शिक्षा ग्रहण करता है। वर्डसवर्थ ने कहा है "प्रकृति को अपना शिक्षक बनाओ।" स्वध्याय भी व्यापक शिक्षा का ही स्वरूप है।

श्री के० एस० मैकेन्जी के अनुसार--

"व्यापक अर्थ में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो आजीवन चलती रहती है और जीवन के प्रायः प्रत्येक अनुभव से उसके भण्डार में वृद्धि होती है।"

डा० राधा कृष्णन के अनुसार--

"यह बात अधिकाधिक स्वीकार की जाने लगी है कि शिक्षा के प्रति संतुलित दृष्टिकोण का विकास किया जाना चाहिए। मानसिक प्रशिक्षण के साथ कल्पना, शक्ति और मनोभावों को निर्मल बनाया जाना चाहिए।"

महात्मा गांधी के अनुसार--

"बालक एवं मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा के सर्वोत्तम अंश का सम्पूर्ण प्रकटीकरण ही शिक्षा है।"

डा० अदावल के अनुसार--

"शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति के विचार तथा व्यवहार में परिवर्तनन और परिवर्द्धन होता है। वह उसके अपने और समाज के उन्नयन के लिए है।"

रूसो के अनुसार--

"जीवन ही शिक्षा है।"

प्रोफेसर रेमण्ड के अनुसार--

"शिक्षा विकास का वह क्रम है जिससे व्यक्ति अपने को धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार से भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है।"

जान डीवी के अनुसार--

"शिक्षा वातावरण को नियन्त्रित करने वाली वह शक्ति है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन्तर्निहित भावनाओं की पूर्ति कर सके।"

जान डीवी ने शिक्षा को त्रिमुखी प्रक्रिया कहा है जिसके तीन अंग हैं। शिक्षक, शिक्षार्थी एवं पाठ्यवस्तु।

लाक महोदय के अनुसार--

"पौधों का विकास कृषि द्वारा तथा मनुष्य का विकास शिक्षा द्वारा होता है।"

शिक्षा का संकुचित अर्थ--शिक्षा के संकुचित अर्थ का साक्षात् स्वरूप हमें विद्यालय की सीमित चहारदीवारी के अन्दर मिलता है। बालक निश्चित अध्यापक से निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार जो शिक्षा प्राप्त करता है वह शिक्षा का संकुचित स्वरूप है। इस शिक्षा का समय भी निश्चित ही होता है जैसे एक वर्षीय, द्विवर्षीय। यह योजनाबद्ध तथा सोद्देश्य शिक्षा है इसे प्राप्त करने के लिए पाठ्यक्रम, कार्यकाल, धनराशि तथा उद्देश्य सब ही पूर्व निर्धारित होती हैं जो कि विशेष शिक्षकों तथा विशेष विद्यालयों में ही दी जाती है।

वास्तविकता तो यह है कि यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो हम देखेंगे कि शिक्षा का संकुचित अर्थ शिक्षा के व्यापक अर्थ में ही सन्निहित है। जब हम शिक्षा के व्यापक अर्थ की बात कहते हैं तो पुस्तकीय ज्ञान, बालक, शिक्षक, विद्यालय आदि को भूल नहीं सकते। इसी प्रकार वातावरण एवं समाज को शिक्षा से हटाया नहीं जा सकता।

संक्षेप में शिक्षा एक प्रक्रिया है, गतिमय प्रक्रिया है, त्रिमुखी प्रक्रिया है। शिक्षा सामाजिक विकास की प्रक्रिया है, शिक्षा राष्ट्र के विकास की प्रक्रिया है।

'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान सर्वत्र पूज्यते।'

शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्व

शिक्षा की आवश्यकता हमें प्रति पल प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक विषय के लिए होती है। मानव जीवन का शिक्षा से घनिष्ट सम्बन्ध है आपाततः एक कागज के दो पृष्ठों की भांति एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी संलग्न हैं। मानव को शिक्षा से अलग करने पर वह मानव की संज्ञा में नहीं गिना जा सकता। कहा गया है विद्या विहीन मनुष्य पशु समान है। अशिक्षित मनुष्य एवं पशु में कोई अन्तर नहीं जैसा कि इससे पूर्व भी कहा जा चुका है।

शिशु जन्म के समय कितना असहाय होता है। वह अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है। वह न खड़ा हो सकता है न अपना भोजन आदि स्वयं कर सकता है अपने सुख-दुख को केवल रुदनमात्र से संकेत दे सकता है। परन्तु शिक्षा के सहारे कुछ ही वर्षों में वह स्वावलम्बी हो जाता है उसकी अन्तर्निहित शक्तियों का विकास तीव्र गति से हो या धीरे,, आधार शिक्षा से ही प्राप्त करता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि बालक को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय कि वह लिखने पढ़ने एवं समझने योग्य हो जाय। वह अपने विचारों को प्रकट कर सके तथा दूसरे के संकेतों को समझ सके। इस प्रक्रिया का प्रथम पग तो भाषा है जिसके माध्यम से वह अपनी बात दूसरे से कहता तथा दूसरों की समझता है। ज्ञान का विकास भी भाषा के ही माध्यम से ही होता है। परन्तु उस भाषा को स्थायी रूप देना शिक्षा का ही कार्य है। मानव मस्तिष्क इतना विशाल नहीं कि समस्त बातें वह हर समय याद कर सके जिस प्रकार फिल्म में समस्त तस्वीरें घिरनी पर लिपटी रहती हैं परन्तु परदे पर आवश्यकतानुसार ही तस्वीर दिखाई जाती है उसी प्रकार मानव मस्तिष्क में अनेक विचार रहते हैं परन्तु समयानुकूल वह उनका प्रदर्शन क्रमशः ही करता है। स्मृति को स्थायी रखने का बहुत बड़ा साधन लिपि है जो शिक्षा का मुख्य स्तम्भ है॥ इस मुख्य स्तम्भ को शिक्षा द्वारा ही मजबूत बनाया जा सकता है तथा बालक धीरे-धीरे उस पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेता है। प्रारम्भ में वह मातृभाषा का ज्ञाता होता है। धीरे-धीरे वह अन्य भाषायें भी सीख लेता है। अनेक व्यक्ति आज भी ऐसे हैं जो संसार की बहुत सी विदेशी भाषाओं पर अधिकार रखते हैं बोलने-लिखने एवं पढ़ने तीनों पदों पर। यह सब शिक्षा का ही प्रताप है।

अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वस्थ मस्तिष्क एवं स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है परन्तु यह कार्य किस प्रकार सम्पन्न हो यह भी तो शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। मानसिक शक्तियों को किस प्रकार विकसित किया जाय, मस्तिष्क को किस प्रकार स्वस्थ रखा जाय यह सब शिक्षा द्वारा ही सम्भव है तथा स्वास्थ्य को किस प्रकार ठीक रखा जाय, प्रकृति के नियमों का पालन करने या चिकित्सा विज्ञान का सहारा लेकर परन्तु सभी में तो शिक्षा निहित है।

मानव की सबसे बहुमूल्य वस्तु उसका आचरण एवं चरित्र है। चरित्र नष्ट होने पर वह उसे पुनः नहीं प्राप्त कर सकता। चरित्र निर्माण किस प्रकार हो वह उसकी रक्षा संसार के दूषित वातावरण से किस प्रकार करे यह अच्छी पुस्तकों एवं सत्संग द्वारा ही सम्भव है जो कि शिक्षा के अटूट अंग हैं। हमारे महापुरुष जैसे रवीन्द्र नाथ टैगोर, महात्मा गांधी, पं० नेहरू सबने ही शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य चरित्र निर्माण बताया है।

बालक के नैतिक विकास में भी शिक्षा का प्रमुख स्थान है। अशिक्षित होने पर मनुष्य अपने नैतिक स्तर से गिर सकता है वह नैतिक अनैतिक का अन्तर बिना शिक्षा बिना ज्ञान जान ही नहीं सकता। समाज के साथ रहते हुए उचित अनुचित का ज्ञान कर्तव्य पालन अपना आदर्श उपस्थित करना शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। हरबार्ट महोदय के अनुसार, "अच्छे नैतिक चरित्र का विकास ही शिक्षा है।"

बालक के बौद्धिक विकास में भी शिक्षा का मुख्य स्थान है। सुकरात का कथन है, "शिक्षा का अर्थ सर्वमान्य विचारों को प्रकाश में लाना जो व्यक्तियों के मस्तिष्कों में स्वभावतः निहित होते हैं।" प्लेटो ने भी कहा है, "शारीरिक मानसिक तथा बौद्धिक विकास की प्रक्रिया ही शिक्षा है।" श्री अरविन्द तथा स्वामी विवेकानन्द ने भी शिक्षा की इस प्रगाढ़ आवश्यकता का समर्थन किया है।

व्यवहार का ज्ञान भी मनुष्य शिक्षा से ही प्राप्त करता है। समाज में अव्यवहारिक मनुष्य का ठहरना कठिन है क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है। दूसरों से किस समय किस प्रकार का व्यवहार किया जाय इसके लिए शिक्षा सहायक होती है।

अन्य समस्त आवश्यकताओं से तीव्र आवश्यकता तो मनुष्य की रोजी-रोटी की होती है पेट तो पशु भी चर कर भर लेता है परन्तु सुचारुरूप से व्यवसाय का प्रशिक्षण बिना शिक्षा सम्भव नहीं। दक्षता प्राप्त करने के लिए शैक्षिक ज्ञान आनिवार्य है।

संक्षेप में बालक की जन्मजात शक्तियों के प्रगतिशील विकास के साथ ही साथ संतुलित व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षा नितान्त आवश्यक है।

सामाजिक स्तर पर--मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह जब तक सार्वजनिक हित की बात न सोचेगा, समाज में सम्मान नहीं पा सकता। उसका समाज में कोई अस्तित्व नहीं अतः बालक में मानवीय गुणों का विकास जैसे दया, क्षमा, सहिष्णुता, प्रेम सहयोग सहकारिता, सुनियोजित ढंग से कार्य करने की आदत शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। विलियम हार्किंग का कथन है कि जाति द्वारा संचित की गई संस्कृति को जाति के युवा लोगों तक पहुंचाने का उत्तरदायित्व शिक्षा का है।

हार्न महोदय ने भी कहा है कि कार्य कुशलता, चरित्रनिर्माण, नागरिकता का विकास करना ही शिक्षा है।

एक अन्य विद्वान के अनुसार अनुशासन की शिक्षा देना भी शिक्षा की आवश्यकता है कि निस्समाज व्यक्ति एक कोरी कल्पना है।

राष्ट्रीय स्तर पर--बालक में राष्ट्र प्रेम जागृत करना अत्यन्त आवश्यक है एक कवि के शब्दों में--

"हृदय नहीं वह पत्थर है जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।"

यह राष्ट्र प्रेम जागृत करना शिक्षा का ही कार्य है। भारतीय शिक्षा में इस उद्देश्य को प्रधानता दी गई है। एक अन्य कवि के शब्दों में--

"सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा।"

यह भावना बालकों में शिक्षा से ही सम्भव है बालक जब तक मातृ प्रेम, स्वदेशी भावना से ओत-प्रोत न होगा, एक आदर्श नागरिक कदापि नहीं बन सकता। वह न तो देश का नाम उज्जवल कर सकता है और न उसकी रक्षा कर सकता है। शिक्षा द्वारा बालक के लहू की हो बूंद स्वदेश-प्रेम से ओत-प्रोत हो जाती है।

आज का युग राष्ट्रीय भावना तक ही सीमित नहीं अपितु विश्व बन्धुत्व की भावना से भी प्रेरित है। हमारा समाज केवल देश मात्र नहीं वरन् सम्पूर्ण पृथ्वी पर फैला हुआ है। हम भारत में हैं किन्तु औषधि जर्मन की, दुध न्यूजीलैण्ड की और मशीन अमरीका की बनी हुई का उपयोग कर रहे हैं। ऐसे समय में दूर स्थित व्यक्ति तथा वहां के वातावरण से समायोजन भी आवश्यक है वरना व्यापार एवं देशाटन कैसे सम्भव होगा। यदाकदा दो स्थानों के व्यापारियों का मिलना भी आवश्यक है। उच्च कोटि की विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करने हेतु भी विदेशों में जाना आवश्यक होता है। इन सब सफलताओं की प्राप्ति हेतु आज संसार बहुत आगे बढ़ चुका है। विज्ञान साहित्य, खेल-कूद आदि से सम्बन्धित कार्यक्रमों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते रहते हैं जो विश्वबन्धुत्व की भावना का बहुत बड़ा प्रतीक है।

आज मानव पृथ्वी तक ही सीमित नहीं वह अन्तरिक्ष में अपना घर बनाने की योजनाएं बना रहा है। अनेकों ग्रहों की यात्रा कर चुका है। परन्तु यह सब शिक्षा का ही तो प्रताप है। आज के मानव ने पुरानी जात-पात, छुआ छूत की दूषित मान्यताएं समाप्त कर दी हैं तथा वह सीना तान कर समस्त संसार को अपना घर मानता है "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना उसमें शिक्षा द्वारा कूट-कूट कर भर दी गई है। मनुष्य को वास्तव में मानव की संज्ञा देने का उत्तरदायित्व केवल शिक्षा मात्र की ही है।

मूल्यांकन

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) शिक्षा का शाब्दिक अर्थ समझाइये।

(2) रूसो के अनुसार शिक्षा की क्या परिभाषा दी गई है ?

(3) कुछ भारतीय शिक्षाविदों का नाम बताओ ?

(4) शिक्षा का संकुचित अर्थ क्या है।

(5) कुछ विदेशी शिक्षा शास्त्रियों के नाम अंकित करो ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) बालक के जीवन में शिक्षा का क्या महत्व है ?

(2) शिक्षा द्वारा बालक को समाजोपयोगी किस प्रकार बनाया जा सकता है।

(3) शिक्षा के माध्यम से बालक में किस प्रकार स्वदेश प्रेम की भावना जागृत की जा सकती है ?

(4) अन्तर्राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति बालक में शिक्षा द्वारा किस प्रकार सम्भव है ?

(5) सिद्ध करिये कि विद्या विहीन मनुष्य पशु समान है।

पाठ--2

शिक्षा के स्वरूप के निर्धारक तत्व

शिक्षा तथा दर्शन

शिक्षा तथा दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध

शिक्षा--व्यक्ति का व्यक्ति के द्वारा ढाला जाना ही शिक्षा है जिससे व्यक्ति समाज के साथ अपना साम्य-स्थापन कर सके। इसके लिए शिक्षक, विद्यार्थी, पाठ्यक्रम तथा समाज इन चारों में समन्वय स्थापित होना चाहिए। समाज तथा राष्ट्र के योग्य और आत्मनिर्भर नागरिक के निर्माण हेतु शिक्षा की अति आवश्यकता है। विभिन्न शिक्षा शास्त्रियों की शिक्षा सम्बन्धी विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करके हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शिक्षा जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक है। यदि व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत् विकास द्वारा समाज में समन्वय स्थापित करते हुये राष्ट्र की उन्नति में अपना योगदान देना है तो उसे शिक्षा के महत्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

दर्शन--दर्शन शब्द संस्कृत के दृश् धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। दृश् धातु में 'ल्युट' प्रत्यय लगाने से दर्शन शब्द बनता है। इस शब्द की व्याख्या है जिससे देखा जाय। दर्शन को अंग्रेजी में फिलासफी कहते हैं जो यूनानी भाषा से लिया गया है। एक है फिलास जिसका अर्थ होता है प्रेम या अनुराग। दूसरा शब्द है सोफिया जिसका अर्थ होता है विद्या या ज्ञान इस प्रकार इस शब्द का अर्थ होगा ज्ञान-प्रेम।

दर्शन की परिभाषा--दर्शन केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं है वरन् गहन चिन्तन का परिणाम है। भारतीय गणराज्य के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० सर्व पल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में दर्शन की परिभाषा निम्नलिखित है---

> "दर्शन शास्त्र यथार्थता के स्वरूप का तार्किक विवेचन है।"
>
> Philosophy is a logical enquiry into the nature of reality.
>
> दर्शन में आत्मा, ईश्वर, ऋषि, सत्ता, ज्ञान, नीति, तर्क आदि का विवेचन रहता है। भारतीय दर्शन की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म और व्यापक है। भारतीय दर्शन का स्रोत वेद है। वेद के अंतिम अंश उपनिषद हैं। श्री मद्भागवत गीता नीति शास्त्र का विश्व विख्यात ग्रंथ है। इसके अलावा, चार्वाक बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन भी है।

शिक्षा और दर्शन का सम्बन्ध--

दर्शन तथा शिक्षा शास्त्र दोनों ही संश्लेषण को महत्व पूर्ण मानते हैं। दोनों ही शास्त्र बालक को नये-नये अनुभव देने पर विशेष बल देते हैं। दोनों ही शास्त्र मूल्य को महत्व देते हैं। शिक्षा विज्ञान तथा धर्म की अपेक्षा दर्शन के अधिक निकट है।

शिक्षा तथा दर्शन में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। शिक्षा और जीवन में अभिन्नता है। दर्शन और जीवन में भी कोई भेद नहीं है। इस दृष्टि से शिक्षा और दर्शन एक दूसरे के

निकट आ जाते हैं। जीवन को समुन्नत बनाने के लिए शिक्षा और दर्शन दोनों की आवश्यकता है। शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में दर्शन का योगदान है। शिक्षा दर्शन की गड़ानों को व्यावहारिक रूप देती है। दर्शन के कोरे सिद्धान्तों से काम नहीं चल सकता। सिद्धान्तों को व्यवहृत बनाने का काम शिक्षा करती है। सिद्धान्त के व्यवहार रूप में आ जाने पर ही समाज और व्यक्ति की उन्नति हो सकती है। जीवन को समुन्नत बनाने के लिए सिद्धान्तों पर अमल करना आवश्यक है। शिक्षा दर्शन की सहायता करती है और उसके स्वप्नों को साकार बनाती है।

दर्शन सिद्धान्तों की व्याख्या करता है जो शिक्षा की देन है। हम शिक्षा के कार्यों का सिद्धान्तीकरण करते हैं। हम शैक्षिक क्रियाओं पर विचार करते हैं यह विचारीकरण दर्शन को जन्म देता है। प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री जान डी० वी० दर्शन को शिक्षा द्वारा उत्पन्न मानते हैं। दर्शना को शिक्षा के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हैं। जान डी० वी० के अनुसार दर्शन शिक्षा का अत्यन्त सामान्य सिद्धान्त ही है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि दर्शन और शिक्षा अन्योन्याश्रित हैं और दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

शिक्षा और दर्शन का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध है। प्लेटो, सुकरात, अरस्तू, लाक, बर्ट्रेण्ड्ड, रसेल तथा जान डी० वी० आदि प्रारम्भ में दार्शनिक समस्याओं पर ही विचार कर रहे थे, किन्तु बाद में उन्होंने शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त किये और आज वे उच्च कोटी के शिक्षा शास्त्री माने जाते हैं। भारतवर्ष में प्राचीन काल में प्रत्येक दार्शनिक आचार्य भी थे। याज्ञवल्क्य, गौतम, वशिष्ट, संदीपन, विश्वामित्र, द्रोणाचार्य आदि दार्शनिक एवं शिक्षकों के नाम से हम परिचित हैं। महात्मा गान्धी मूल रूप में शिक्षक नहीं थे किन्तु बेसिक शिक्षा की नई तालीम उन्हीं की देन है। रवीन्द्र नाथ टैगोर, अरविन्द घोष जैसे कवि एवं दार्शनिकों ने शिक्षा जगत् में अपने विचार ही नहीं दिये वरन् विश्व भारती एवं पान्डुचेरी शिक्षा आश्रमों की स्थापना भी की।

डा० राधाकृष्णन ने मूल रूप में शिक्षा में विशेष रुचि लेते हुये भारतीय दर्शन की एक अच्छी व्याख्या की थी।

पेस्तालाजी, हरवर्ट, फ्रोबेल आदि पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा दर्शन की भी व्याख्या की। समाज परिवर्तनशील है। परिस्थितियां बदलती रहती हैं। इस बदलती हुई परिस्थितियों से सामन्जस्य स्थापित करना आवश्यक होता है। सामाजिक परिवर्तन के अनुकूल शिक्षा प्रणाली में भी परिवर्तन करने होते हैं। परिवर्तन कब और कैसे आये इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढने में ही शिक्षा दर्शन का आरम्भ हो जाता है। शिक्षा प्रणाली राष्ट्र की भावना के अनुरूप होती है। इस भावना ने नवीन शिक्षा दर्शन को जन्म दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान इस बात की ओर गया कि भारतीय शिक्षा को किस प्रकार भारतीय बनाया जाय।

संक्षेप में हम शिक्षा तथा दर्शन के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं।

(1) शिक्षा तथा दर्शन एक ही वस्तु के दो पक्ष या पहलू हैं। दर्शन शिक्षा का सैद्धांतिक पक्ष प्रस्तुत करता है शिक्षा उस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप प्रदान करती है। दर्शन के अभाव में शिक्षा का तथा शिक्षा के अभाव में दर्शन का काम नहीं चल सकता।

(2) शिक्षा और दर्शन एक दूसरे पर निर्भर हैं। दर्शन शिक्षा को दृष्टिकोण प्रदान करता है तथा शिक्षा इन दृष्टिकोणों को नियंत्रित करती है। स्पेन्सर, जान डी० वी० आदि शिक्षा शास्त्री इसी विचार के समर्थक थे।

(3) दार्शनिक विचारधाराओं को समझे बिना शिक्षा के शैक्षिक विचार अन्धकार की ओर ले जा सकते हैं।

स्पेन्सर के अनुसार--

वास्तविक शिक्षा का संचालन वास्तविक दार्शनिक ही कर सकता है।

(4) शिक्षा के विभिन्न अंगों पर दर्शन का प्रभाव है। दार्शनिक विचार धाराओं में परिवर्तन के फलस्वरूप विभिन्न काल में शिक्षा के उद्देश्य भी बदलते रहे हैं। दर्शन के अनुसार

पाठ्यक्रम का निर्माण होता है। दर्शन के अनुसार शिक्षा पद्धति बदल जाती है। दर्शन से अनुशासन प्रभावित होता है। दर्शन के अनुसार पाठ्य पुस्तक का निर्माण होता है। दर्शन से शिक्षक भी प्रभावित होता है।

अतः यह कहा जा सकता है--

(1) दर्शन शिक्षा शास्त्र से शिक्षक के ज्ञान में परिपक्वता आती है। वह प्राकृति, जीव, ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

(2) दर्शन शास्त्र के द्वारा शिक्षक का व्यक्तित्व प्रभावशाली हो जाता है। उसमें नैतिकता, परोपकारिता, आत्म विश्वास, प्रभावशीलता आदि गुण विकसित होते हैं।

(3) दर्शन से शिक्षक को उसकी शिक्षा प्रक्रियों में बहुत सहायता मिलती है। इससे उसे शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम शिक्षा विधि आदि सब का ज्ञान प्राप्त होता है।

(4) शिक्षक भावी दर्शन के निर्माण में भी दर्शन शास्त्र से प्रेरणा प्राप्त करता है। इस तरह शिक्षक भावी दर्शन का निर्माता होता है।

इस विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शिक्षा और दर्शन का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मूल्यांकन

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) चार भारतीय दार्शनिकों के नाम बताओ।

(2) दो पाश्चात्य दार्शनिकों के नाम बताओ।

(3) दो भारतीय दार्शनिक ग्रंथों के नाम बताओ।

(4) गीता में किस प्रकार के कर्म की शिक्षा दी गई है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) शिक्षा एवं दर्शन में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। उद्धरण देकर अपने कथन की पुष्टि कीजिए।

(2) शिक्षा तथा दर्शन में क्या सम्बन्ध है? अध्यापक कहां तक दर्शन से प्रभावित होता है।

(3) दर्शन शास्त्र किस प्रकार शिक्षा को प्रभावित करता है?

(4) शिक्षा दर्शन पर किस प्रकार निर्भर है?

(5) "सभी शैक्षिक प्रश्न दार्शनिक प्रश्न हैं" इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

शिक्षा तथा मनोविज्ञान का सम्बन्ध--

शिक्षा व्यक्ति के बौद्धिक, भावात्मक, शारीरिक सामाजिक आदि गुणों का विकास है। शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है।

मनोविज्ञान की परिभाषा--

वर्तमान युग में हम मनोविज्ञान को प्राणियों के चेतन, अर्द्ध चेतन एवं अचेतन मानसिक क्रिया के फलस्वरूप व्यवहारों का सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों ही प्रकार का अध्ययन मानते हैं। यह परिभाषा सर्वमान्य है।

मनोविज्ञान के कई भेद हैं जैसे सामान्य मनोविज्ञान, बाल मनोविज्ञान, पशु मनोविज्ञान, समूह मनोविज्ञान, शिक्षा मनोविज्ञान आदि ।

यहां हम केवल दो के सम्बन्ध में विचार करेंगे, (1) बाल मनोविज्ञान, (2) शिक्षा मनोविज्ञान ।

बाल मनोविज्ञान--इसके अन्तर्गत हम बालकों के विकास, उनकी मानसिक क्रियाओं तथा उनके विभिन्न व्यवहारों का अध्ययन करते हैं । बालक के जन्म जात गुण, बालकों के शारीरिक, बौद्धिक तथा संवेगात्मक गुणों का विकास एवं उनके तत्सम्बन्धी व्यवहारों का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है । इनके अध्ययन का सम्बन्ध बालक की शिक्षा से है अतः उनको जानना आवश्यक है ।

शिक्षा मनोविज्ञान--शिक्षा मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो विद्यार्थियों की प्रकृति और व्यवहारों से सम्बन्ध रखता है जिनको हमें शिक्षा देनी है ।

शिक्षा तथा मनोविज्ञान का सम्बन्ध--

व्यक्ति की बौद्धिक, शारीरिक, भावात्मक, सामाजिक आदि कैसे हुई यह मनोविज्ञान बताता है । मनोविज्ञान यह भी प्रकट करता है कि इन गुणों एवं शक्तियों के कारण व्यक्ति का व्यवहार कैसे होता है या होना चाहिये । अतः यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान शिक्षा का आधार है । शिक्षा मनोविज्ञान के सहारे ही व्यक्ति के व्यवहारों का उचित दिशा में विकास करती है । शिक्षा और मनोविज्ञान का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ट है । मनोविज्ञान के अभाव में शिक्षा बिल्कुल निरर्थक है, ऐसा आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों का विचार है । शिक्षा की विधि तथा पाठ्यक्रम भी मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर निर्धारित किया जाता है । मानव में वैयक्तिक विभिन्नताएं होती हैं और उनका व्यक्तित्व एक दूसरे से भिन्न होता है । इस मनोवैज्ञानिक सत्य को समझ कर ही शिक्षा का कार्य सरल ढंग से सम्पादित और पूर्ण किया जा सकता है यह मनोविज्ञान की ही देन है कि शिक्षा बाल केन्द्रित हो गई है तथा विषयों का अध्ययन सहसम्बन्ध द्वारा कराया जाता है । बालकों की रुचि, शक्ति एवं योग्यता के अनुसार ही शिक्षा दी जाती है । इसके लिए शैक्षिक और व्यावसायिक निर्देश दिये जाते हैं, जो मनोविज्ञान के ही अंग हैं । इससे दोनों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है ।

बालक को बिना समझे शिक्षा देने से प्रयास असफल हो जायगा मनोविज्ञान और शिक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही प्राचीन है । महान शिक्षा शास्त्रियों के विचार यह स्पष्ट करते हैं कि मनोविज्ञान सदैव ही शिक्षा का आधार रह चुका है । प्लेटो का विश्वास था कि सफल शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थी के स्वभाव का भी अध्ययन करने का प्रयत्न करे । शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का समावेश सर्वप्रथम रूसो ने ही किया था । प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री पेस्तालाजी ने भी शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया ।

पेस्तालाजी के अनुसार--

(1) शिक्षा मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का स्वाभाविक, सर्वांगपूर्ण तथा प्रगति शील विकास है ।

(2) मेरे अनुभव के अनुसार सफलता इसी में निहित है कि बालकों को जो कुछ पढ़ाया जाय वह उनके स्वयं के निरीक्षण से मेल खाता है या नहीं ।

(3) प्राथमिक शिक्षा का आधार केवल आकृति, संख्या और भाषा को ही बनाया जा सकता है । क्योंकि बालक वस्तु को देखकर ही उसकी आकृति को समझता है । उसके बाद वह उसकी संख्या को देखता है ।

(4) अन्त में वह भाषा के माध्यम से नाम, रूप प्रदान करता है । "मैं अध्यापक को पिता मानता हूं ।

पेस्तालाजी के अनुसार शिक्षक को बालक के सम्पूर्ण व्यवहार की जानकारी रखनी चाहिये। हरबार्ट फ्रोबेल तथा मान्टेसरी ने भी शिक्षा के मनोविज्ञान के समीप लाने का प्रयास किया है।

मनोविज्ञान के अध्ययन से लाभ--

(1) विद्यार्थियों को विशेष योग्यताओं की जानकारी कराना।

(2) बालकों की वैयक्तिक भिन्नताओं की जानकारी कराना।

(3) बालक की विभिन्न मानसिक स्थितियों का ज्ञान देना।

(4) प्रारम्भिक शिक्षा में बालक की भावनाओं का महत्व समझना।

(5) बुद्धि की परीक्षा की सहायता से विद्यार्थी की विद्यालय सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण।

(6) मन्द बालकों की विभिन्न समस्यायें।

(7) बुद्धिमान तथा मन्द बालकों के स्वभाव का ज्ञान तथा उसी के अनुसार शिक्षण पद्धति।

(8) पाठन-सिद्धान्त और उनके लाभ--इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान के बिना शिक्षा और उसकी विभिन्न प्रणालियां अपूर्ण हैं।

अध्यापन विधि और विषय की जानकारी ही शिक्षक का अस्त्र नहीं है। उनके लिए यह आवश्यक है कि वह अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का कक्षा में प्रयोग करे जिससे प्रत्येक विद्यार्थी अपनी रुचि और योग्यताओं के अनुसार उन्नति कर सके। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षा मनोविज्ञान पर आधारित है।

शिक्षा बाल केन्द्रित है--

शिक्षा के लिये बालक का अध्ययन किया जाता है।

शिक्षा में बालक को बालक समझा जाता है।

शिक्षा में व्यक्तिगत भिन्नता का ध्यान रक्खा जाता है।

शिक्षा में सर्वसुलभ शिक्षा को मान्यता दी जाती है।

शिक्षा में क्रिया द्वारा शिक्षा का महत्व है।

शिक्षा एक आन्तरिक क्रिया है।

शिक्षा में खेल को महत्व दिया जाता है।

शिक्षा में स्वतंत्रता द्वारा अनुशासित रखा जाता है।

शिक्षा द्वारा बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापक मित्र पथ प्रदर्शक के रूप में है।

शिक्षा में वैयक्तिक विकास का ध्यान रक्खा जाता है।

सामाजिक विकास ही शिक्षा का लक्ष्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोविज्ञान शिक्षा के अत्यंत निकट है। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक को उपेक्षा कर दूसरे को समझा नहीं जा सकता।

शिक्षा तथा समाज का सम्बन्ध--

महात्मागांधी के अनुसार शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक के शरीर, मन और आत्मा में अन्तर्निहित सर्वोत्तम शक्तियों के सर्वांगीण उदघटन से है ।"

प्रकृति वादी शिक्षा शास्त्री रूसों के अनुसार शिक्षा कोई ऐसी वस्तु नहीं जो बाहर से दी जा सके अपितु बालक की स्वाभाविक शक्तियों तथा योग्यताओं के आन्तरिक विकास का नाम ही शिक्षा है ।

शिक्षा विकास का एक प्रयास है । शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है । यह मनुष्य का विकास करती है । यह आजीवन चलन वाली निरन्तर प्रक्रिया है । यह एक त्रिमुखी प्रक्रिया है । यह एक सप्रयोजन प्रक्रिया है । अतः यह सत्य है कि शिक्षा अनुभवों के द्वारा मनुष्यों के व्यवहारा में एक परिवर्तन है । यह जीवन की तैयारी के लिये प्राप्त की जाती है । इससे मनुष्य का नैतिक और भौतिक उत्थान होता है ।

समाज शास्त्र

वार्ड के अनुसार--

समाज शास्त्र समाज का एक विज्ञान है ।

ग्रीन के अनुसार समाज शास्त्र मनुष्य का उसके समस्त सामाजिक सम्बन्धों के रूप में समन्वय करने वाला और सामान्य अनुमान निकालने वाला एक विज्ञान है ।

सिमेल के अनुसार समाजशास्त्र मानवीय अन्तः सम्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान है ।

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है इसलिए उसने बहुत वर्षों के अनुभव से यह सीख लिया है कि उसके व्यक्तित्व और सामूहिक कार्यों का सम्यक विकास सामाजिक जीवन द्वारा ही सम्भव है । समाज की वस्तुएं सबके कल्याण के लिए हैं इन्हीं के द्वारा मनुष्य समाज का निर्माण करता है । मानव में विश्वास, ज्ञान, महत्वाकांक्षा, सामान्य सूझ आदि गुण विद्यमान रहते हैं । समाज का निर्माण उस समय होता है जब उस समाज के बनाने वाले सभी सदस्य एक सामान्य उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सक्रिय बनकर कार्य करें ।

शिक्षा और समाज का सम्बन्ध--

समाज व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो सामाजिक रीतियों और परम्पराओं के सूत्र में बंधा हुआ है । हर समाज में यह कोशिश की जाती है कि उसके नये सदस्य समाज की परम्पराओं और नियमों से पारिचत हो जायं । समाज इस कार्य को शिक्षा के द्वारा पूरा करता है ।

जिस समाज में शिक्षा का प्रबन्ध नहीं होता वह समाज पिछड़ जाता है । उसकी उन्नति के रास्ते में हर कदम पर कठिनाइयां आया करती हैं ।

देश, काल के परिवर्तनों से भी समाज परिवर्तित होता रहता है । अतः समाज अपने में परिवर्तन लाना चाहता है । जो समाज के साथ नहीं बदलता वह उन्नति नहीं कर सकता । इस कार्य में शिक्षा महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करता है ।

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है । शिक्षा प्राप्त कर मनुष्य अपने को समाज के योग्य बनाता है । समाज का अध्ययन करने वाले विषय को समाज शास्त्र कहते हैं । समाज के नियमों और विधियों की जानकारी समाज में रहने वाले हर सदस्य को होनी चाहिये । यह कार्य शिक्षा के द्वारा ही पूर्ण किया जाता है । अतः समाज और शिक्षा का घनिष्ट सम्बन्ध है ।

डा० राधा कृष्णन ने लिखा है कि चिन्तनशील मस्तिष्क के फूलने और फलने के लिये कला और विज्ञान में वृद्धि करने के लिए एक पहली दशा आवश्यक है वह दशा है,

एक संघर्षहीन समाज जो सुरक्षा तथा अवकाश प्रदान करने वाला हो। एक धनी संस्कृति का होना असम्भव है, यदि समाज बनजारों की तरह है जहां व्यक्ति जीवन के लिये संघर्ष करते हों और दुःखदायी मौत पाते हों।

शिक्षा प्राप्त करने और ज्ञान को बढ़ाने के लिए समाज की प्रकृति, रचना, सामाजिक सदस्यों के जीवन स्तर तथा आदर्शों और मूल्यों की जानकारी बहुत आवश्यक है।

मनुष्य समाज में जीवन व्यतीत करता है। समाज उस पर अपने अनेक प्रभाव डालता है। मनुष्य भी अपने व्यक्तित्व से समाज को प्रभावित करता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

शिक्षा और समाज का इतना निकटतम सम्बन्ध है कि एक के अभाव में दूसरे को समझा ही नहीं जा सकता। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। शिक्षा समाज के लिए होती है और समाज शिक्षा के लिए होता है। यदि शिक्षा न हो तो मानव असभ्य बन जायेगा। शिक्षा विहीन समाज तथा समाज विहीन शिक्षा की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

मूल्यांकन--

लघु उत्तरीय प्रश्न--

(1) शिक्षा की परिभाषा चार पंक्तियों में लिखिये।

(2) मनोविज्ञान की संक्षिप्त परिभाषा लिखिये।

(3) बाल मनोविज्ञान क्या है ?

(4) शिक्षा मनोविज्ञान किसे कहते हैं एक संछिप्त परिभाषा लिखिये।

(5) समाज शास्त्र की संछिप्त परिभाषा लिखिये।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न--

(1) शिक्षा तथा मनोविज्ञान में क्या सम्बन्ध है ?

(2) शिक्षा तथा समाज शास्त्र में क्या सम्बन्ध है ?

(3) शिक्षा को मनोविज्ञान से क्या लाभ है ?

(4) शिक्षक को मनोविज्ञान का ज्ञान क्यों रखना आवश्यक है ?

(5) शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां कौन सी हैं ?

पाठ 3

शिक्षा के विविध रूप और अभिकरण–औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, सहज शिक्षा तथा वर्तमान शिक्षा में इनका योगदान

मानव जीवन में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। दुनिया में जीवित रहने के लिये, समाज में रह कर सुखपूर्वक जीवन बिताने के लिये, जीवन की उपलब्धियों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को शिक्षित होना परमावश्यक है। यह शिक्षा मानव को शैशव काल से ही उपलब्ध कराई जाती है। शिशु, बालक, किशोर, युवक, वृद्ध वह किसी भी वय वर्ग का क्यों न हो कुछ न कुछ निरन्तर सीखता ही रहता है। शिक्षा के साधन उस पर किसी न किसी रूप में प्रभाव डालते रहते हैं। परन्तु ये साधन जीवन के अन्तिम चरण की अपेक्षा प्रारम्भिक काल में अधिक प्रभाव दिखाते हैं। इसी कारण बालक के बाल्यकाल की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता है। माता–पिता समय से पूर्व ही चिन्तित दीख पड़ते हैं कि बालक की शिक्षा दीक्षा का सर्वोत्तम प्रबन्ध किस प्रकार किया जाय ? वे अपनी सामर्थ्य से अधिक धन भी व्यय करने को तैयार रहते हैं। इस कार्य में समाज की विभिन्न प्रकार की संस्थायें अथवा अभिकरण सहायता प्रदान करती हैं। शिक्षण कार्य को उचित प्रकार से सम्पन्न करने हेतु अनेक प्रकार की सामान्य एवं विशिष्ट संस्थाएं स्थापित की गई हैं। ये साधन या अभिकरण मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं, 1––सहज, 2––असहज अथवा अनौपचारिक तथा औपचारिक।

सहज शिक्षा––

शिक्षा के सहजरूप के अन्तर्गत समस्त जगत आ जाता है। व्यापक रूप से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि समस्त जगत ही हमारी शिक्षा का केन्द्र है। सभी व्यक्ति एक दूसरे के शिक्षक हैं। शिक्षक एवं शिक्षार्थी में जाति, धर्म, आयु, सीमा कोई भी बाधक नहीं। अनेक बातें वृद्ध भी बालकों से सीखते हैं। कभी कभी बालक ऐसी सीख देता है कि बड़े लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं। मानव का शिक्षक मानव ही नहीं अपितु विभिन्न वस्तुएं, समस्याएं, संघर्ष एवं परिस्थितियों आदि से बहुत कुछ अनायास ही सीखा जा सकता है। विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से ज्ञान वृद्धि होती है। इस शिक्षा के द्वारा बालक सहज एवं स्वाभाविक ढंग से अपने चारों ओर के वातावरण, परिवार, सहपाठी तथा विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, व्यवसायिक व राजनैतिक संगठनों द्वारा बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करता रहता है। यह शिक्षा अबाध गति से जीवनपर्यन्त चलती रहती है।

सहज शिक्षा के विभिन्न संगठनों के अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे उपकरण हैं जो ज्ञान वृद्धि में सहायक होते हैं जैसे चलचित्र, रेडियो, टेलीविजन, नाट्याभिनय, समाचारपत्र, चार्ट, माडल, प्रदर्शनी, भौतिक लैन्टर्न, चित्र क्लेश कार्ड, कहानी, भाषण, गोष्ठी, पर्यटन तथा भांति-भांति की श्रव्य-दृश्य सामग्री इन सभी उपकरणों का व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है इनके उपभोगों में हम परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन भी कर सकते हैं। सहज शिक्षा के अन्तर्गत परिवार की मुख्य भूमिका है।

शिक्षा के अभिकरण सहज शिक्षा के सन्दर्भ में :––

परिवार––यह एक सहज स्वाभाविक संस्था है इसका स्थान शिक्षा के साधनों में सर्वोपरि है तथा सभी शिक्षाविदों ने इसके महत्व को स्वीकार किया है। मातापिता की छत्रछाया में रह कर बालक फलता फूलता तथा बड़ा होता है। परिवार बालक के विकास में कोई प्रयत्न शेष नहीं रखता तथा मुख्य भूमिका माता पिता निभाते हैं कभी-कभी बड़े भाई-बहिन भी बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। यही उसकी प्रथम पाठशाला तथा बालक की जननी उसकी प्रथम

शिक्षिका हैं । इतिहास साक्षी है कि महापुरुषों के चरित्रनिर्माण में उनकी माता का मुख्य स्थान रहा है । बालक का मानसिक, शारीरिक, नैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास परिवार में ही होता है उसके भविष्य की नींव यहीं पड़ती है ।

प्राचीन काल में आश्रम, मठ, गुरुकुल आदि शिक्षा स्कूल थे जहां बालक गुरु के संरक्षण में रह कर विधिवत ढंग से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त करता था यहां तक कि राजनीतिक युद्ध शास्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी । धीरे धीरे समाज का विकास हुआ तथा वैज्ञानिक युग का आविर्भाव हुआ । उद्योगों की वृद्धि इस युग की मुख्य देन है । इन उद्योगों के विकास हेतु कुछ स्वदेशी, कुछ विदेशी सहायता से प्रयत्न हुए । तकनीकी ज्ञानवर्द्धन हेतु प्राविधिक विद्यालयों की स्थापना हुई । परन्तु इन संस्थाओं तक कितने परिवारों की पहुंच सम्भव थी । अनेक परिवार अछूते ही रह गये । अतः सामान्य विद्यालय स्थापित हुए जिनमें काफी अधिक बालकों की समुचित शिक्षा की व्यवस्था हुई । परन्तु परिवार का महत्व अपनी जगह है । परिवार में बालक के संस्कारों का बीजारोपण होता है । उसके परिवार के वातावरण को उसके आचरण एवं चरित्र पर अमिट छाप होती है यह उसकी इच्छा एवं आकांक्षाओं का पूरक है । बालक के चरित्र निर्माण, शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक आदि चतुर्मुखी विकास में परिवार का प्रमुख स्थान है । यहां उसमें सौन्दर्यानुभूति एवं कलात्मक विकास के गुण आते हैं आत्माभिव्यक्ति की शक्ति प्राप्त होती है, आत्मविश्वास विकसित होता है । परिवार से अलग रहने वाला बालक अधिकांशतः अन्तर्मुखी हो जाते हैं ।

परिवार में रह कर बालक धार्मिक शिक्षा भी ग्रहण करता है जिसके माध्यम से वह अनेक दुर्गुणों से बच जाता है । बालक की भावनाओं को पोषित होने का जितना सुअवसर परिवार में मिलता है अन्यत्र नहीं । परिवार में रह कर बालक औद्योगिक एवं व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त करता है परिवार में होने वाले उद्योग का वह विशेषज्ञ बन जाता है तथा जीवन भी अनुशासित बन जाता है । प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पेस्तालाजी ने कहा है :—

> "घर जो कि प्रेम एवं स्नेह का केन्द्र बिन्दु है, शिक्षा के लिये सर्वोत्तम स्थान है, और बालक के लिए प्रथम पाठशाला है ।"
>
> फ्रोबेल के अनुसार, "माताये आदर्श शिक्षक हैं ।"
>
> डाक्टर मोरिमा मान्टेसरी ने छोटे बालकों की शिक्षा में घर के वातावरण एवं परिस्थितियों को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है ।
>
> हेडरसन के अनुसार बालक की शिक्षा उसके घर से प्रारम्भ होती है ।
>
> रेमण्ड का मत है, "घर वह भूमि है जिसमें से ऐसे महान गुण उत्पन्न होते हैं जिनकी सामान्य विशेषता सहानुभूति है ।"

संगी-साथी एवं समाज—कुछ बड़ा होने पर बालक परिवार के सीमित दायरे से बाहर भी अपना सम्पर्क जोड़ता है । अपने साथ के बालकों से वह बहुत कुछ सीखता है । सामाजिक प्राणी होने के नाते वह अकेला नहीं रह सकता तथा अन्य पड़ोसी बालकों के प्रति आकर्षित होता है तथा अन्य बालक भी उस बालक के प्रति । अन्त में बच्चे टोली बना कर खेलते में, कहानी कहते हैं । साथियों के मध्य रह कर बुद्धिमान बालकों में नेतृत्व का विकास, आत्मविश्वास, स्वतन्त्र—अभिव्यक्ति एवं कार्यकुशलता जैसे गुणों का विकास होता है । साथियों से बिछुड़े बालक उदास, खिन्न, निरुत्साही, स्वार्थी, चिड़चिड़े हो जाते हैं । उनमें सहानुभूति, त्याग, सहिष्णुता, दया, सत्य, सेवा तथा उदारता की भावना का उदय नहीं हो पाता है । बालक के स्वाभाविक विकास के लिये उसे विभिन्न प्रकार के खेल, प्रतियोगिताएं, स्काउट, गाइड, जन सेवा, ग्रामसेवा, श्रमदान, पर्यटन, स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाएं तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये जिससे वे निर्भीक, योग्य तथा कुशल नागरिक के रूप में निखर कर समाज के सामने आएं ।

समाज—

समाज को वृहत् परिवार की संज्ञा से सुशोभित किया गया है । आज का बालक भावी समाज का कर्णधार ह । अतः उसी की शिक्षा पर समाज की पूरी उन्नति निर्भर करती है । बालक के विकास हेतु स्वस्थ वातावरण उपस्थित करना समाज का प्रथम कर्त्तव्य है । बालक ज्ञान का जिज्ञासु होता है वह प्रत्येक रहस्य जानने की जिज्ञासा प्रगट करता ह तथा शंका मात्र हो जाने पर भी जब तक किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच जाता, चन से नहीं बैठता । अतः समाज का धर्म ह कि वे तत्व बालक के सामने न आने दिए जांयं जो उसके सर्वांगीण विकास में बाधक हैं । हमें कदापि भी न भूलना चाहिये कि बालक में बन्दर के समान ही नकल करने की प्रवृत्ति होती है ।

बाल्यावस्था में संवेग बड़े कोमल परन्तु तीव्रता को लिये होते हैं वे बिना प्रवाहित हुए नहीं रह सकते परन्तु उनके लिए उचित मार्ग दर्शन करना समाज का कर्तव्य है । छोटी आयु में बालक की भावनाओं को ठेस भी न लगनी चाहिये । इससे उसके अचेतन मन में भावना ग्रन्थियां बन जाती हैं जो उसे समाज में उचित स्थान प्राप्त करन में बाधक होती हैं ।

निःसन्देह बालक के शैक्षिक जगत में समाज की महत्वपूर्ण भूमिका है । भारत स्वतन्त्र होने के पश्चात् हमारी सरकार इस ओर विशेष ध्यान दे रही है कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बालक के सर्वांगीण विकास के लिए पूरे अवसर प्रदान हों । समय-समय पर सम्मेलन, गोष्ठियां, खेल, महोत्सव मनाने की योजनाएं बनाई जाती हैं ।

शिक्षा के अनौपचारिक साधनों के लाभ

1--औपचारिक साधनों की अपेक्षा अनौपचारिक साधनों से अधिक ज्ञान प्राप्त होता है ।

2--यह ज्ञान जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में काम आता है ।

3--इससे क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त होता है ।

4--इन साधनों को प्राप्त करने के लिए हमें कोई योजना निर्मित नहीं करनी पड़ती ।

5--इन साधनों से प्राप्त ज्ञान हमको जीवन से मृत्यु तक हर परिस्थिति में काम आता है ।

6--हमारे व्यक्तित्व का विकास इन्हीं साधनों द्वारा होता है ।

जान डीवी ने अनौपचारिक शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "बालक दूसरों के साथ रह कर अनौपचारिक ढंग से शिक्षा प्राप्त कर सकता है और यह साथ रहने की प्रक्रिया ही शिक्षा प्रदान करने का काम करती ह । यह प्रक्रिया हमारे अनुभवों को विस्तृत बनाती है । यह हमारी कल्पना को प्रेरित करती है इससे कथन और व्यवहार में शुद्धता का विकास होता है" ।

शिक्षा के अनौपचारिक साधनों के दोष

(Demerits of Informal Agencies of Education)

इन साधनों के निम्नलिखित दोष हैं —

1--इन साधनों से जो शिक्षा प्राप्त होती है वह पर्याप्त नहीं है ।

2--इन साधनों से प्राप्त शिक्षा अव्यवस्थित है ।

3--यह शिक्षा कोई उद्देश्य सामने नहीं रखती ।

4--इस शिक्षा को उच्च शिक्षा नहीं कहा जा सकता ।

5--इस शिक्षा से प्राप्त ज्ञान कभी-कभी देश तथा समाज के लिये अहितकर भी हो सकता है। उदाहरणार्थ बालक में गुणों के स्थान पर दुर्गुणों का भी संचार हो सकता है।

6--इन साधनों से हमको पूरे जीवन की शिक्षा नहीं मिलती।

औपचारिक शिक्षा

औपचारिक शिक्षा का तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है जो कक्षानुसार शिक्षण से सम्बन्धित होती है। इस माध्यम से बच्चे तथा युवक जन्म से प्रायः 30 वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करते हैं। इसके अन्तर्गत नर्सरी स्तर से विश्वविद्यालय स्तर तक की सभी प्रकार के विषयों की शिक्षा सम्मिलित की जाती है। शासकीय एवं अशासकीय सभी प्रकार की शिक्षण संस्थायें इस प्रकार की व्यवस्था से सम्बद्ध होती हैं। औपचारिक शिक्षा अपेक्षाकृत व्यवस्थित तथा विधिवत् होती है। ये वे साधन हैं जो विचारपूर्वक जानबूझ कर शिक्षा देते हैं। इन साधनों में विद्यालय, चर्च, फर्म, संग्रहालय, पुस्तकालय, आर्ट गैलरीज, पुस्तकें आदि आती हैं।

प्राचीन काल में विद्यालयों का वर्तमान स्वरूप न था। अधिकांशतः गुरुकुलों में ही शिक्षण कार्य सम्पन्न होता था जो केवल राजा-महाराजा एवं सवर्ण परिवार के बालकों तक ही सीमित था। परन्तु समाज का स्वरूप विस्तृत होने के साथ ही साथ जटिल हुआ, ज्ञान-विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ जिसका बिखरा हुआ रूप आज हमारे सामने है। प्रारम्भ में विद्यालयों की स्थापना वैभवशाली देशों में हुई। विशेष कर जिनमें सभ्यता, संस्कृति का पहले अंकुरण हुआ जैसे भारत, चीन, बेबीलोनियां आदि। इसका विकसित रूप आज हमारे समक्ष है।

विद्यालय अंग्रेजी के स्कूल (School) शब्द का पर्यायवाची है। जान डीवी के अनुसार, "विद्यालय समाज का एक ऐसा साधन है जो समाज की एक आवश्यकता है, एक आविष्कार भी है तथा इसका विशिष्ट एवं लघु रूप भी है। विद्यालय में बालक को जीवन की शिक्षा मिलती है। किसी राष्ट्र की उन्नति का निर्णय विधान सभाओं, न्यायालयों एवं कारखानों से नहीं वरन् इन पाठशालाओं से होता है, वास्तव में विद्यालय घर एवं विश्व को जोड़ने वाली एक कड़ी है अथवा एक तट से दूसरे तट तक लाने-ले जाने वाली एक नौका है। बालक के व्यक्तित्व का विकास पाठशाला में अपने सहयोगियों के बीच ही सम्भव है। विद्यालय में अनुशासित एवं सुसंस्कृत जीवन का निर्माण होता है। सामूहिक खेल, सभा, गोष्ठियां, सांस्कृतिक कार्यक्रम, बाल सभा, प्रतियोगिताएं, कवि-सम्मेलन, परीक्षायें आदि व्यक्तित्व को निखार देते हैं। उदाहरणार्थ किसी साक्षात्कार (Interview) में यदि दो छात्र भाग लेते हैं एक व्यक्तिगत (Private) परीक्षा पास है तथा दूसरा संस्थागत (Regular), दोनों के व्यक्तित्व एवं व्यवहार में बहुत अन्तर होता है। अच्छी संस्थाओं के पढ़े हुए छात्र समान पाठ्यक्रम होने पर भी प्रतियोगिता में विजयी होते हैं।

थामस महोदय के अनुसार विद्यालय के निम्नलिखित कार्य हैं :--

(1) बौद्धिक प्रशिक्षण (Intellectual training)।

(2) चारित्रिक प्रशिक्षण (Charactor training)।

(3) सामुदायिक जीवन का प्रशिक्षण (Training of Community)।

(4) देशभक्ति का प्रशिक्षण (Training of Patriotism)।

(5) स्वास्थ्य तथा स्वच्छता का प्रशिक्षण (Training of Health)।

औपचारिक शिक्षा की सीमाएं--

1--इसमें उपयुक्त सामग्री एवं विधि विधान का इतना आडम्बर खड़ा कर दिया जाता है कि शिक्षा कृत्रिम तथा अनैसर्गिक हो जाती है।

2—आर्थिक एवं पारिवारिक परिस्थितियों के कारण बालक विद्यालय नहीं पहुंच सकते ।

3—प्रवेश लेने के उपरान्त बालक माता-पिता को परिवार के कार्यों में हाथ नहीं बंटा पाते ।

4—बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण बढ़ती हुई छात्र संख्या को खपत विद्यालयों में सम्भव नहीं ।

5—प्राथमिक ग्रामों में स्थित विद्यालय तथा उच्च विद्यालयों के स्तर में अधिक अन्तर है ।

6—विद्यालय अधिकतर शहरी क्षेत्र में हैं तथा आने-जाने की समस्या बालक के पढ़ने में विघ्न डालती है ।

7—शिक्षा जीवनोपयोगी नहीं दी जाती कि बालक पढ़ने के पश्चात् भविष्य में कार्य निर्धारण कर सके । बालक के लिये व्यवसाय-चुनाव समस्या ही बनी रहती है ।

8—इन साधनों से तुच्छ एवं सस्ता ज्ञान प्राप्त होता है ।

9—यह ज्ञान कोरा पुस्तकीय है । इससे विषय ज्ञान होता है व्यवहार का नहीं ।

शिक्षा के इन साधनों के दोषों पर प्रकाश डालते हुए डीवी महोदय ने लिखा है, "औपचारिक शिक्षा बड़ी ही सरलता से तुच्छ, निर्जीव, अस्पष्ट एवं किताबी बन जाती है । कम विकसित समाज में जो संचित ज्ञान होता है उसे कार्य में बदला जा सकता है किन्तु उन्नत संस्कृति में जो बातें सीखी जाती हैं वे प्रतीकों के रूप में होती हैं और उन्हें कार्यों के रूप में नहीं बदला जा सकता । इस बात का हमेशा भय बना रहता है कि औपचारिक शिक्षा जीवन के अनुभव से कोई सम्बन्ध न रख कर केवल विद्यालयों की विषय सामग्री न बन जाय ।" जब तक शिक्षा जीवनोपयोगी नहीं तथा बेरोजगारी की विभीषिका को हटा न सके, बालक को देना बेकार है । उपरोक्त दोषों को देखते हुए औपचारिक शिक्षा से हट कर कोई विकल्प खोजना ही होगा ।

प्रौढ़ शिक्षा

सन् 1949 से जिसे हम समाज शिक्षा कहते हैं उसे उससे पूर्व प्रौढ़ शिक्षा की संज्ञा दी जाती थी । श्री बंशीधर श्रीवास्तव के शब्दों में "पहले उसका (प्रौढ़ शिक्षा) आयोजन केवल औपचारिक था और व्यक्ति को साक्षर बना कर उसके लिये थोड़ा-बहुत पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध कर वह अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेती थी । अब उसका लक्ष्य प्रौढ़ों को इस प्रकार की शिक्षा देना हो गया है जिसमें वे व्यक्ति के रूप में और समाज के एक अंग के रूप में अपनी अभावग्रस्त दशा से ऊपर उठकर पहले से अधिक सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकें ।"

श्री के० जी० सैयदेन (K.G. Saiydain) के शब्दों में, "यदि हमारा ध्येय ऊंचा है और हम अपनी राजनीतिक, सामाजिक स्वतंत्रता के सहारे सामाजिक व आर्थिक प्रजातंत्र के लक्ष्य तक पहुंचना चाहते हैं तो स्पष्टतः हमें सर्वसामान्य जनता के लिये कहीं अधिक उच्च स्तर की शिक्षा की आवश्यकता होगी अन्यथा हमें इस बात का भय बना रहेगा कि चतुर लेकिन बेईमान समूह या व्यक्ति अपने निकृष्ट उद्देश्यों को पूरा करने के तथाकथित 'स्वतंत्रता का अनुचित लाभ उठायेंगे' इसी बात को मैं तत्काल एक विशाल पैमाने पर प्रौढ़ शिक्षा का आन्दोलन प्रारम्भ करने के राजनीतिक औचित्य का आधार कहूंगा ।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय जीवन में प्रौढ़ शिक्षा का कितना महत्व है । भारत प्रजातंत्र देश है जिसमें राज्य की पूरी बागडोर जनता के हाथ में है । अनपढ़ जनता इतना महत्वपूर्ण कार्य किस प्रकार करेगी ? फलों की टोकरी में एक सड़ा हुआ फल पूरे टोकरी के फलों को नष्ट

कर देता है उसी प्रकार एक अयोग्य नागरिक पूरी सत्ता को हानि पहुंचा सकता है। केवल बालकों को शिक्षा देने का अर्थ इस कार्य को 20 वर्ष और आगे बढ़ा देना है। अतः प्रौढ़ शिक्षा अति अनिवार्य है। अबुल कलाम आजाद के शब्दों में, "By Social Education We mean an education for the complete man." अर्थात् समाज शिक्षा वह है जो सर्वसाधारण के लिये एक मत से एक समान हो।

हुमायूं कबीर के अनुसार, "यह वह पाठ्यक्रम है जिसके द्वारा लोगों में नागरिकता की चेतना उत्पन्न की जाती है और उनमें सामाजिक सुसंगठित की भावना की वृद्धि की जाती है। प्रौढ़ शिक्षा बड़ी आयु के लोगों को केवल अक्षर ज्ञान करा कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाती बल्कि इसका लक्ष्य सामान्य जनता में एक सुशिक्षित मन का निर्माण करना रहता है। इसके स्वभाविक परिणाम के रूप में प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य यह रहता है कि लोगों में व्यक्तिगत रूप से समाज के एक सदस्य के नाते अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों की सचेष्ट भावना उत्पन्न की जाय।"

सन् 1949 में एक परामर्श समिति ने प्रौढ़ शिक्षा के निम्न उद्देश्य निर्धारित किये :—

1—नागरिकों को उनके अधिकारों व कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक कर उनमें समाज सेवा की भावना विकसित करना।

2—नागरिकों को देश-विदेश से सम्बन्धित समस्याओं का परिचय देना।

3—नागरिकों में प्रजातंत्र के प्रति प्रेम उत्पन्न कर लोकतंत्रीय शासन प्रणाली की शिक्षा देना।

4—जन सहयोग की भावना विकसित करना।

5—देशवासियों को पढ़ने-लिखने व सामान्य गणित का आवश्यक ज्ञान कराकर ज्ञान प्रसार के प्रति प्रोत्साहित करना।

6—नागरिकों में इतिहास, भूगोल व संस्कृति शिक्षा के द्वारा प्राचीन सांस्कृतिक आदेशों के प्रति गौरव की भावना जागृत करना।

7—उन्हें हस्तकला का आवश्यक प्रशिक्षण देना, अवकाश का समय आर्थिक समृद्धि के लिये उपयोग करने की शिक्षा देना।

8—नागरिकों में सामूहिक वाद-विवाद, पठन-पाठन व पुस्तकालयों के माध्यम से नैतिकता को जागृत करना।

9—नागरिकों को गीत, नृत्य, कविता, कहानी, नाटक आदि द्वारा विभिन्न प्रकार के मनोरंजन का अवसर प्रदान करना।

प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय कठिनाइयां भी हैं :—

1—सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या निरक्षता की है क्योंकि हमारे देश में 80 प्रतिशत से भी अधिक जनता निरक्षर है।

2—वयस्कों के लिये निश्चित पाठ्यक्रम नहीं। बालकों की शिक्षा का पाठ्यक्रम प्रौढ़ों के लिये उपयोगी नहीं।

3—प्रौढ़ों की शिक्षण पद्धति भी निश्चित नहीं हुई है जो बालकों से भिन्न होनी चाहिये।

4—प्रौढ़ विद्यालयों के लिये योग्य अध्यापकों का अभाव है। प्राथमिक विद्यालय के अध्यापक ही यह कार्य करते हैं जो कि मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ होते हैं।

5—प्रौढ़ पाठशालाओं का भी अभाव है।

6--नवसाक्षरों के लिये साहित्य निर्माण नहीं हो पाया है ।

7--अभी यह भी निश्चित नहीं हुआ है कि राज्य सरकार, केन्द्रीय सरकार शिक्षा विभाग या सार्वजनिक शिक्षा संस्थान कौन संस्था इस उत्तरदायित्व को निभायेगी ।

उपरोक्त समस्याएं प्रौढ़ शिक्षा के समक्ष हैं अवश्य, लेकिन सरकार उनके उन्मूलन के लिये प्रयत्न कर रही है । अनेक प्रयोग किये जा रहे हैं । श्री सैयदेन का कथन है, "वास्तव में केवल एक ही प्रकार की दरिद्रता होती है । जिसका कोई इलाज नहीं होता और वह होती है उत्साह की दरिद्रता ।"

समस्त भारत में आज भी कुल 3806 करोड़ निरक्षर प्रौढ़ हैं जिसमें 15 से 35 आयु वर्ग के लगभग 10 करोड़ हैं । राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम देश के उन्हीं 15 करोड़ निरक्षर प्रौढ़ों को साक्षर बनाने हेतु आयोजित कार्यक्रम है ।

यद्यपि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही राष्ट्रीय आन्दोलन ने प्रत्येक निवासी के अन्तर में देश-प्रेम की भावना प्रस्फुटित कर दी थी तथा हमारे नेताओं ने अंग्रेज सरकार से राष्ट्रीय शिक्षा की मांग करते हुए प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव किया । 1910 में प्रारम्भ प्रयास आज पनपने की स्थिति में है । बड़ौदा राज्य 1910 से ही जागरूक रहा है । प्रौढ़ों के लिये चल पुस्तकालयों का प्रबन्ध हुआ । मैसूर राज्य में भी ग्रामीण वयस्कों के लिये रात्रि पाठशालाएं स्थापित की गईं । बम्बई व बंगाल प्रान्त में भी रात्रि पाठशालाएं खोली गईं । 1921 में यह कार्य भारतीय मंत्रियों को सौंप दिया गया । अन्त में यह नार्मल स्कूल के अध्यापकों को इस कार्य में रुचि लेने को उत्साहित किया । ग्रामीण माध्यमिक विद्यालयों के साथ पुस्तकालय संलग्न किये गये । 1937 में भारत में 11 प्रान्तों में से 6 प्रान्तों में कांग्रेस के मंत्रिमन्डल बने तथा जनता द्वारा चुने गये मंत्रियों ने प्रौढ़ शिक्षा पर विशेष बल दिया । अखिल भारतीय प्रौढ़ शिक्षा परिषद् की स्थापना भी दिल्ली में हुई । परन्तु 1939 में मंत्रिमन्डल ने त्याग-पत्र दे दिया तथा यह कार्य देश स्वतंत्र होने पर 1947 में पुनः जीवन को प्राप्त हुआ जो अब दिन प्रति दिन उन्नति कर रहा है । आशा है अगले कुछ ही वर्षों में निरक्षरता का अन्धकार भारत से समाप्त हो जायेगा ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1--शिक्षा के कौन-कौन से अभिकरण हैं ?

2--स्वतंत्रता से पूर्व प्रौढ़ शिक्षा की क्या स्थिति थी ?

3--अनौपचारिक शिक्षा के अन्तर्गत माता-पिता का क्या कर्त्तव्य है ?

4--प्रौढ़ शिक्षा में पुस्तकालय का क्या महत्व है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1--औपचारिक शिक्षा का महत्व एवं सीमाएं लिखो ।

2--'भारत के समान प्रजातांत्रिक देश का कल्याण अनौपचारिक शिक्षा द्वारा ही सम्भव है' सिद्ध करो ।

3--'भारत से निरक्षरता रूपी अंधकार दूर करने का एकमात्र साधन प्रौढ़ शिक्षा है' इस कथन पर प्रकाश डालिये ।

पाठ–4

शिक्षा का उद्देश्य––वैयक्तिक एवं सामाजिक

सभी कार्यों के करने के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अदृश्य होता है । यही तथ्य शिक्षा के सम्बन्ध में भी प्रभावी होता है । उद्देश्य हीन छात्र उस यात्री के समान है जिसे यह नहीं मालूम रहता कि उसे कहां जाना है । उद्देश्य की जानकारी के बिना शिक्षक उस नाविक के समान है जिसे अपने लक्ष्य की जानकारी नहीं रहती और उसके शिक्षार्थी उस पतवार विहीन नौका के समान होते हैं जो सागर की लहरों पर थपेड़े खाती इधर–उधर भटकती रहती है ।

उद्देश्य निश्चित करने की आवश्यकता क्यों है ?

प्रारम्भ में शिक्षा का उद्देश्य निश्चित कर लिया जाता है तो इससे अध्यापक एवं छात्र दोनों को लाभ होता है । उद्देश्य निश्चित हो जाने पर इधर–उधर भूलना–भटकना नहीं पड़ता और अभीष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति सरलता से होती है । इसके अतिरिक्त कार्य करने वाले को आन्तरिक अनुभूति होती है जिसके फलस्वरूप उसे प्रेरणा, बल, स्फूर्ति एवं उत्साह की प्राप्ति होती है । उद्देश्य निश्चित हो जाने पर क्रिया सार्थक एवं उचित दिशा में होती है और जीवन में सफलता मिलती है । शिक्षा के उद्देश्य निश्चित हो जाने पर शिक्षा के अन्य अंग जैसे पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तक, शिक्षण विधि, अनुशासन एवं मूल्यांकन की भी व्यवस्था सरल हो जाती है ।

शिक्षा के उद्देश्य से तात्पर्य––

प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री रिवलिन ने अपनी पुस्तक "इनसाइक्लोपीडिया आफ मार्डन एजूकेशन" में लिखा है "शिक्षा एक प्रयोजनात्मक तथा नैतिक प्रक्रिया है" अतएव स्पष्ट है कि शिक्षा का कोई न कोई प्रयोजन है, उद्देश्य है, लक्ष्य है । यह उद्देश्यहीन कदापि नहीं हो सकती है । इसकी पुष्टि अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री जान डीवी ने भी की है, इन्होंने भी शिक्षा को सुनियोजित प्रयोजनात्मक प्रक्रिया माना है ।

अब यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिये ? शिक्षा के उद्देश्य के निर्धारण के बिना शिक्षा का स्वरूप अव्यवस्थित रहता है ।

शिक्षा का उद्देश्य जीवन के लक्ष्यों पर आधारित है । जीवन के लक्ष्य भिन्न–भिन्न हैं अतएव शिक्षा के उद्देश्य भी भिन्न–भिन्न रहे हैं । प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना था । वर्ण व्यवस्था के युग में अपने वर्ण के अनुसार शिक्षा प्राप्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य था । बौद्धकाल में शिक्षा का उद्देश्य अहिंसा एवं शान्ति रक्खा गया था । मुस्लिम काल में शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य कुरान की शिक्षा प्राप्त करना था । ब्रिटिश काल में भारतीय शिक्षा का उद्देश्य क्लर्क तैयार करना था । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में शिक्षा का उद्देश्य नागरिकता का विकास करना रक्खा गया ।

कुछ पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य निम्नवत् है :

सुकरात––शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सत्य की जानकारी कराकर उसी के अनुरूप व्यवहार करना सिखाना है ।

प्लेटो––शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास है ।

रूसो––शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का प्रकृति से सामन्जस्य स्थापित करना है ।

पेस्तालाजी--शिक्षा का उद्देश्य व्यावहारिक, सामाजिक तथा नैतिक विकास है ।

हरबार्ट--शिक्षा का उद्देश्य नैतिकता एवं चरित्र का सुधार है ।

जान डीवी--शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक कुशलता उत्पन्न करना है ।

हरबर्टस्पेन्सर--शिक्षा का उद्देश्य जीवन को पूर्णता प्राप्त कराना है ।

शिक्षा के उद्देश्य निर्धारण के आधार--

शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण का मूलभूत आधार व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकतायें हैं । शिक्षा वास्तव में एक सामाजिक प्रक्रिया है । यह समाज के व्यक्तियों द्वारा सम्पादित होती है । यह प्रक्रिया पीढ़ी-दर-पीढ़ी निरन्तर निरन्तर विकास की ओर अग्रसर रहती है ।

शिक्षा का उद्देश्य जीवन के लक्ष्यों से सम्बन्धित है । जीवन के लक्ष्य देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं । अतएव शिक्षा व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुसार दी जाती है । इसीलिये व्यक्तिगत एवं सामाजिक आवश्यकताओं को प्रथम आधार माना गया है ।

व्यक्ति की आवश्यकतायें कई प्रकार की हो सकती हैं । उदाहरणार्थ--शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, बौद्धिक, चारित्रिक, नैतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आदि-आदि । शिक्षा द्वारा व्यक्ति की इन आवश्यकताओं का विकास किया जाता है । इसके अतिरिक्त व्यक्ति की कुछ सामाजिक आवश्यकतायें भी होती हैं । सामाजिक आवश्यकताओं के अन्तर्गत भावात्मक एकता, राष्ट्रीय विकास, अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना, सामुदायिक भावना, नागरिकता के गुण आदि आते हैं ।

शिक्षा के उद्देश्य के निर्धारण में दूसरा प्रमुख तत्व है व्यक्ति एवं समाज का जीवन-दर्शन, जीवन के प्रति विचार मत एवं विश्वास आदि । भारत, इंग्लैड एवं अमेरिका में जनतान्त्रिक मूल्यों को आधार मानकर शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण किया गया है जबकि चीन एवं रूस में साम्यवादी विचारों के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों को निश्चित किया गया है ।

शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में तीसरा महत्वपूर्ण योगदान देश, काल एवं परिस्थितियों का है । आधुनिक युग में विज्ञान एवं टेक्नोलाजी का विकास हुआ, अन्ध विश्वास समाप्त हुआ, जनता को स्वतन्त्रता मिली कि वह अपने अनुसार शिक्षा का उद्देश्य रक्खे । इसलिये प्रजातन्त्र में सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास पर बल दिया गया ।

शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में चौथा योगदान दार्शनिकों के विचारों का है । सुकरात, प्लेटो, रूसो, लाक, हर्बार्ट, डीवी, विवेकानन्द, टैगोर, गांधी अरविन्द आदि इसके अनेकों उदाहरण हैं ।

पांचवा योगदान शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में देश की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का है ।

शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में छठवां महत्वपूर्ण बिन्दु देश के इतिहास का भी है । भारत अपने गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास के कारण आज भी आध्यात्मवादी भावना से ओतप्रोत है । क्योंकि अमेरिका का अपना कोई प्राचीन इतिहास नहीं था इसीलिये वहां प्रयोजनवादी (उपयोगितावादी) विचारधारा का जन्म हुआ ।

शिक्षा के अच्छे उद्देश्यों के लक्षण--

जान डीवी महोदय ने अच्छे उद्देश्यों के तीन लक्षण बताये हैं :

(1) निश्चित किया गया उद्देश्य सामयिक दशाओं के अनुसार हो ।

(2) उद्देश्य परिवर्तनशील होने चाहिये । देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुकूल शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन करते रहने की आवश्यकता है ।

(3) उद्देश्यों में क्रियाओं की स्वतन्त्रता होनी चाहिये ।

शिक्षा के उद्देश्यों को निश्चित करने में उपर्युक्त लक्षणों को भी ध्यान में रखना चाहिये ।

शिक्षा के उद्देश्यों का विभाजन--

अब प्रश्न यह है कि शिक्षा के उद्देश्यों का विभाजन किस प्रकार किया जाय ? यह सत्य है कि व्यक्ति तथा समाज की समन्वित आवश्यकताओं के आधार पर शिक्षा के उद्देश्य निश्चित होते हैं । व्यक्ति का अपना अकेला कोई अस्तित्व नहीं है । वह सामुदायिक रूप में समाज का सदस्य है । व्यक्ति एवं समाज एक दूसरे के पूरक हैं । व्यक्ति समाज से अलग रह कर असामाजिक बन जाता है इसलिये व्यक्ति के जीवन में सामाजिक जीवन की महत्ता अधिक है । व्यक्तियों के समूह से परिवार, समुदाय, राज्य, राष्ट्र एवं विश्व का निर्माण हुआ है । अतएव शिक्षा द्वारा व्यक्ति के सभी अंगो व क्षेत्रों का विकास किया जाना चाहिये ।

शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य

वैयक्तिकता का अर्थ :--

सामान्य रूप से वैयक्तिकता का अर्थ व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताओं से लिया जाता है । इसलिये कुछ विद्वानों ने इसे "निजत्व का विकास" भी कहा है । व्यक्ति की निजी विशेषतायें उसकी योग्यतायें, क्षमतायें, प्रवृत्ति, रुचि एवं अभिरुचि आदि हैं । व्यक्ति का अपना विकास क्षेत्र होता है जिसमें वह अपनी आत्मा (Self) को जानने का प्रयास करता है । इस प्रकार व्यक्ति आत्मानुभूति के लिये शिक्षा ग्रहण करता है । व्यक्ति को आत्मानुभूति प्राप्त हो जाने पर वह अपनी बुद्धि के अनुसार स्वतन्त्र वातावरण में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक आदि के विकास के लिये प्रयत्न करता है ।

वैयक्तिक विकास के सबसे बड़े समर्थक टी० पी० नन महोदय हैं । इन्होंने लिखा है "संसार में जो भली वस्तुयें आती हैं वे किसी न किसी व्यक्ति के स्वतन्त्र प्रयत्न से आती हैं । शिक्षा की व्यवस्था इसी सत्य के आधार पर होनी चाहिये ।" परन्तु यह उद्देश्य कोई नया नहीं है क्योंकि प्राचीन काल में हमारे देश तथा यूरोप में भी इस उद्देश्य की महत्ता थी । भारतीय शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य आध्यात्मिक रहा है । यह वैयक्तिक उद्देश्य तो है ही । यूनान की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन में 'सत्यम शिवम् सुन्दरम्' का विकास करना था । यह भी वैयक्तिकता का उद्देश्य है । बाद में प्रकृतिवादी रूसो ने भी शिक्षा की व्यवस्था में वैयक्तिकता के विकास पर बल दिया है ।

अतएव अभिभावक, अध्यापक एवं समाज के कर्णधारियों का कर्तव्य है कि वे बालकों के निजत्व के विकास के लिये ऐसा वातावरण प्रदान करें जिससे कि बालक को अपनी प्रतिभा का प्रयोग करने का अवसर प्राप्त हो सके तथा वह अपने शक्तियों एवं गुणों की अभिव्यक्ति कर सके तभी उसका अधिकतम विकास संभव है । इसी के फलस्वरूप वह अपने जीवन में पूर्णता का अनुभव कर सकेगा ।

वैयक्तिक उद्देश्य के गुण--

(1) शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का समर्थन अनेक शिक्षाशास्त्रियों, जीव वैज्ञानिकों, मनवैज्ञानिकों तथा जनतन्त्रवादी देशों द्वारा किया गया है ।

(2) जीव विज्ञान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी विशेषतायें होती हैं जिसके कारण वह दूसरे व्यक्तियों से भिन्न होता है अतएव व्यक्तिगत भिन्नताओं की दृष्टि से शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये ।

(3) मनोवैज्ञानिकों के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था में आयु, योग्यता, अभिरुचि, स्वतन्त्रता तथा क्रियाशीलता को विशेष महत्व प्रदान करना चाहिये ।

(4) समूह और समाज केवल व्यक्तियों का योग है । व्यक्ति का विकास समाज का विकास है और व्यक्ति का प्रयास समाज का प्रयास है । अतएव समाज की उन्नति के लिये पहले व्यक्ति की उन्नति पर विचार करना पड़ेगा ।

(5) यदि हम इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि जब भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन किया गया है तब उसके परिणाम अच्छे नहीं हुये । अतएव हमें शिक्षा का वही उद्देश्य अपनाना चाहियें जिससे कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन न होता हो । इस दृष्टिकोण से हमें शिक्षा के इस उद्देश्य का स्वागत करना चाहिये ।

(6) हर देश की संस्कृति के कुछ मूल तत्व होते हैं । इन तत्वों को विशेष महत्व दिया जाता है । इसी में समाज विशेष के मूल्यवान विचार निहित होते हैं अतएव इस संस्कृति को सुरक्षित रखना तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाना परम आवश्यक है । यह कार्य व्यक्ति का ही है । अतएव व्यक्ति का विकास करना शिक्षा का कार्य है जिससे कि वह अपने कार्य को सफल ढंग से कर सके ।

(7) वर्तमान युग में शिक्षा के पाठ्यक्रम में विविधता पाई जाती है । इसी के फलस्वरूप आधुनिक शिक्षा प्रणाली में नर्सरी से लेकर उच्च शिक्षा स्तर तक सभी में पाठ्यक्रम की रचना वैयक्तिक विशेषताओं को ध्यान में रख कर किया गया है ।

वैयक्तिक उद्देश्य के दोष :

(1) वैयक्तिकता का उद्देश्य सीमित होता है । इस उद्देश्य को अधिक महत्व देने पर व्यक्ति का अहम (अहंकार) बढ़ जाता है । वह अपने सामने दूसरे को कुछ नहीं समझता है ।

(2) व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करता है तथा समाज की अवहेलना करने लगता है जैसे हिटलर आदि तानाशाहों ने किया । इसके परिणाम बड़े भयंकर हो सकते हैं और विश्वशांति नष्ट हो सकती है ।

(3) कभी-कभी वैयक्तिकता का विकास समाज विरोधी भी हो जाता है । व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है । बिना समाज के वह निरर्थक है । समाज से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है ।

वैयक्तिकता के विकास के दोषों को दूर करने के लिये सामाजिक विकास के उद्देश्य का निरूपण किया गया है ।

शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य

सामाजिक उद्देश्य का अर्थ--

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है एवं उसकी उत्पत्ति भी एक सामाजिक देन है । टी० रेमांट के अनुसार "निस्समाज व्यक्ति कोरी कल्पना है ।" इसका आशय यह है कि व्यक्ति की उत्पत्ति समाज में होती है, समाज में उसका पालन-पोषण होता है और समाज में ही उसका अन्त होता है । व्यक्ति सभी क्रियायें समाज का

आधार लेकर करता है, अस्तु शिक्षा का उद्देश्य समाज की उन्नति, सामाजिक विकास, समाज कल्याण की भावना का विकास माना गया है ।

शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना योगदान सृजनात्मक रूप से समाज के लिये करना चाहिये । शिक्षा द्वारा व्यक्ति में ऐसी भावना उत्पन्न की जाती है कि "व्यक्ति अपने लिये नहीं वरन् अपने देश व राज्य के लिये पैदा हुआ है ।" वह स्वयं समाज के ऊपर भार न बने बल्कि उसके कार्यों से समाज का हित हो । व्यक्ति सामाजिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करके जीवित नहीं रह सकता । कुछ शिक्षा शास्त्री व्यक्ति की तुलना में राज्य को अधिक महत्व-पूर्ण मानते हैं । इनके अनुसार व्यक्ति के जीवन का प्रत्येक कार्य राज्य द्वारा निश्चित होना चाहिये अर्थात राज्य द्वारा शिक्षा की नीति बनाई जाय । सामाजिक उद्देश्य का यह अर्थ हमें नाजी व फासिस्टवादियों की विचारधारा में मिलता है । गत वर्षों में जर्मनी, इटली तथा जापान ने इसी सिद्धान्त के आधार पर अपने यहां शिक्षा की व्यवस्था की थी । इस उद्देश्य के जन्मदाता किप्टे और हेगेल थे । इनके अनुसार राज्य के ऊपर किसी की सत्ता नहीं है ।

ग्रेट ब्रिटेन एवं अमेरिका द्वारा सामाजिक उद्देश्य का अर्थ है--सामाजिक सेवा । इसका तात्पर्य यह है कि समाज के लिये अच्छे नागरिकों का निर्माण हो सके । पाठ्यक्रम ऐसा हो जिससे व्यक्तियों को नागरिकता की शिक्षा मिले एवं समाज का कल्याण हो सके ।

प्रोफेसर बागले व डीवी के अनुसार सामाजिक शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्ति में "सामाजिक कुशलता" उत्पन्न करना । इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति को समाज के लिये कार्य कुशल बनाया जाय ।

सामाजिक उद्देश्य के दो रूप :

(1) राज्य समाजवाद--राज्य की सत्ता महत्वपूर्ण होती है । वैयक्तिकता का हनन होता है ।

(2) जनतन्त्र समाजवाद--जनतन्त्रवादी समाजवाद में शिक्षा द्वारा सामाजिक चेतना का विकास होता है ।

सामाजिक उद्देश्य से लाभ :

(1) व्यापकता--इस उद्देश्य में व्यापकता है तथा इस उद्देश्य में कई उद्देश्य सम्मिलित हैं जैसे जीविकोपार्जन, ज्ञानार्जन व समायोजन आदि । इसमें परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति को तैयार किया जाय ।

(2) व्यक्ति व समाज दोनों ही लाभान्वित होते हैं । व्यक्ति सभी कार्य अपने लिये नहीं करता वरन समाज के लिये भी करता है । जब व्यक्ति अपनी शक्तियों का विकास करता है तो उसमें समाज का भी लाभ होता है ।

(3) राष्ट्रीयता तथा सामाजिक विकास की भावना का विकास--शिक्षा का यह उद्देश्य राष्ट्र की रक्षा के लिये व्यक्ति में देश भक्ति की भावना एवं विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास करने के लिये आवश्यक है । उसमें आत्मत्याग तथा टीम भावना के जागरण के लिये सामाजिक उद्देश्यों का बड़ा महत्व है ।

(4) व्यक्ति का सर्वांगीण विकास--इस उद्देश्य द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है । नन का विचार है कि शिक्षा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के लिये उन दशाओं को प्राप्त करना चाहिये जिसके अन्तर्गत वैयक्तिकता सम्पूर्णतया विकसित हो सके ।

सामाजिक उद्देश्य से हानि :

(1) सामाजिक उद्देश्य पर अत्यधिक बल देने से शिक्षा समाज के बश में हो जाती है और फलस्वरूप समाज अपनी इच्छानुसार शैक्षिक प्रणाली की रचना करता है ।

(2) इस उद्देश्य पर अधिक बल देने से आध्यात्मिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक मूल्यों का ह्रास होता है ।

(3) यह एकांगी तथा संकुचित है । यह व्यक्ति के व्यक्तित्व को उभरने नहीं देना चाहता । बालक-बालिकाओं की रुचियां, क्षमतायें तथा योग्यतायें भिन्न-भिन्न होती हैं । अतः शिक्षा में व्यक्तिगत भेदों को ध्यान रखा जाना चाहिये ।

(4) कला, साहित्य तथा संगीत की प्रगति के लिए स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत प्रयासों की आवश्यकता है जो सामाजिक उद्देश्य से पूर्ण नहीं होती बल्कि इसकी प्रगति में बाधा पहुंच सकती है ।

व्यक्तिगत एवं सामाजिक उद्देश्यों में समन्वय :

यदि हम वैयक्तिक अथवा सामाजिक में से एक उद्देश्य को लेकर चलते हैं तो एक दूसरे के लाभ से वंचित हो जाते हैं । मनुष्य के जीवन में दोनों उद्देश्यों की आवश्यकता है । अतः इनका समन्वय ही उचित है जिससे कि दोनों के दोषों से बचा जा सके और इनकी अच्छाइयों का लाभ मिल सके । यही विचार रांस तथा नन महोदय का भी है । रांस का कथन है कि "जिस सामाजिक वातावरण में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास करता है उससे पृथक् होने पर उसकी वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं रह जाता और उसका व्यक्तित्व निरर्थक हो जाता है ।" समाज सेवा से ही व्यक्तिगत उद्देश्य और सामाजिक उद्देश्य विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक हैं । यह दोनों उद्देश्य मनुष्य के सम्पूर्ण विकास एक सिक्के के दो पहलू के समान अभिन्न हैं । रस्क महोदय के अनुसार आत्मानुभूति समाज सेवा से प्राप्त होती है । समाज व्यक्ति को प्रोत्साहित करता है कि वह आगे बढ़े । वास्तव में किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का समाज के एक आदर्श सदस्य के रूप में सर्वोत्तम विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है । एक के बिना दूसरे का विकास सम्भव नहीं है । अतः समन्वय ही इस समस्या का सबसे बड़ा समाधान है ।

अतः शिक्षा का आदर्श उद्देश्य वही है जो व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, नैतिक विकास इस प्रकार से करे कि वह समाज की उन्नति में सहायक हो सके । नवीन शिक्षा का आदर्शरूप यही है क्योंकि आज संसार में लोकतन्त्र की भावना व्याप्त है । आज प्रत्येक व्यक्ति अपना यह जन्मसिद्ध अधिकार समझता है कि उसे जीवित रहने के लिए समाज में समान अवसर प्रदान किये जांय । अतः आज शिक्षक को परिस्थितियों एवं वर्तमान समाज की रचना को दृष्टिगत करते हुये व्यक्ति का विकास करना है ।

पाठ 5

निम्नलिखित शिक्षाविदों के शिक्षा सम्बन्धी विचार--

प्लेटो, रूसो, जांनडीवी, रवीन्द्र नाथ टैगोर, अरविन्द तथा महात्मा गांधी--

प्लेटो

जीवन परिचय--प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो का जन्म एथेन्स नामक नगर के एक धनी परिवार में 427 ई0पू0 में हुआ था। 20 वर्ष की अवस्था में प्लेटो, सुकरात (Socrates) महोदय के सम्पर्क में आया तथा 8 वर्ष तक उनके साथ रहा। सुकरात का प्लेटो के विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। सुकरात की मृत्यु के पश्चात (399 ई0पू0) प्लेटो ने एथेन्स छोड़ दिया। इन्होंने अनेक देशों का भ्रमण किया तथा अनेक विद्वानों के सम्पर्क में आए तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन किया। वह स्वयं एक उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ, गणितज्ञ समाज सुधारक तथा शिक्षा शास्त्री थे। इनके पिता का नाम एरिस्टोन था। प्लेटो इनका प्यार का नाम था। वे एक कुशल खिलाड़ी तथा सिपाही थे। खेल में कई बार पुरस्कार भी मिले। वह स्वयं कवि थे। प्लेटो ने मिस्र, सिसली, पेगारा, इटली आदि देशों की यात्रा के पश्चात् 387 में वापसी पर एक विश्वविद्यालय (एकाडमी) की स्थापना की। जहां वे जीवन के अन्त तक कार्य करते रहे। 347 ई0 पू0 में 32 वर्ष की आयु में वे दिवंगत हो गये।

प्लेटो ने अनेकों पुस्तकों की रचना की जिनमें निम्न मुख्य हैं--

1. Apology.
2. Crito.
3. Phaedo.
4. Symposium.
5. Republic.
6. The laws.

उपरोक्त लगभग सभी रचनायें संवाद (Dialogues) के रूप में लिखी गई हैं। प्रथम पुस्तक में रिपब्लिक में आदर्श राज्य का स्वरूप, दूसरी पुस्तक प्रेटागौरस जिसमें सुकरात के सद्गुण सम्बन्धी विचार, तीसरी पुस्तक 'लांज' में रिपब्लिक के बचे विचार तथा चौथी पुस्तक सिम्पोजियम में सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् के शाश्वत आदर्श पर विचार डाला है।

प्लेटो के शिक्षा सम्बन्धी विचार--

प्लेटो के शिक्षा सम्बन्धी विचार उसकी आदर्शवादी दार्शनिक विचार धारा से प्रभावित हैं। प्लेटो के अनुसार :--

> "शिक्षा वह सर्वप्रथम तथा सर्वसुन्दर वस्तु है जो सर्वोत्तम व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।" उनके अनुसार शिक्षा द्वारा मनुष्य की प्रवृत्तियों में सुधार किया जा सकता है। शिक्षा बालक को घृणा करने योग्य वस्तुओं से घृणा करना तथा प्रेम करने योग्य वस्तुओं से प्रेम करना सिखाती है। अर्थात् शिक्षा उचित अनुचित का ज्ञान कराती है। उसका विश्वास था, "शिक्षा शरीर तथा आत्मा को ऐसी पूर्णता प्रदान करने में निहित है जिसके लिए वे उपयुक्त है"। दूसरे

स्थान पर उन्होंने कहा है, "शिक्षा ही वह भावात्मक साधन है जिसके द्वारा शासक समरसता पूर्वक राज्य की स्थापना करने के लिए मानव प्रकृति को उचित दिशा प्रदान करता है।" उनके अनुसार "सौन्दर्य का जीवन ही, न्याय का जीवन है, प्रेम का जीवन है" (A life of beauty, a life of justice, a life of love") प्लेटो के अनुसार शिक्षा व्यक्ति से समाज के लिए अधिक महत्व की है उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य राज्य का विकास करना है जिसके लिये व्यक्ति को बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिये।

'रिपब्लिक' पुस्तक में प्लेटो ने आरम्भ से युवावस्था तक की शिक्षा व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। उनका विचार है कि राज्य के हित हो में व्यक्ति का हित समाविष्ट है। शिक्षा से व्यक्ति सौन्दर्यप्रिय, त्यागी, न्यायी, सत्यप्रिय, उत्साही तथा कर्मठ बन सकता है। राज्य का कार्य दार्शनिकों द्वारा चलना चाहिये तभी व्यवस्था आदर्श एवं उत्तम होगी।

राज्य के समाज संचालन की दृष्टि से प्लेटो ने समाज को तीन वर्गों में विभक्त कर उनकी आवश्यकतानुसार योजना तैयार करने पर बल दिया। राज्य के समस्त कर्मचारियों में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के गुणों का विकास हो, वे सहयोग, सद्भाव, त्याग साहस, सामूहिक जीवन की भावना तथा व्यवसायिक दक्षता के साथ जीवन यापन के योग्य हों। उसके अनुसार शिक्षा के आधार पर ही आत्मा की शुद्धता हो सकती है। प्लेटो के प्रमुख विचार निम्न हैं, उन्होंने तीन प्रकार का ज्ञान बताया है--

1--ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान जैसे खट्टा, शीतल, कटु, रंगीन आदि।

2--नसर्गिक ज्ञान जो कि मस्तिष्क निहित होता है।

3--तीसरे प्रकार का ज्ञान वस्तुओं के विषय में अपना मत प्रकट करता है।

प्लेटो का दो लोकों में विश्वास है--विचार लोक तथा ज्ञान लोक। विचार लोक को शाश्वत, सत्य, ईश्वरीय बताया है।

प्लेटो का मनोविज्ञान--प्लेटो मनुष्य को आत्मा और शरीर का योग मानता है। मस्तिष्क चेतना का निवास स्थान है।

प्लेटो के नैतिक शास्त्र का सिद्धान्त--प्लेटो के अनुसार नैतिक होने के लिए कल्याण भावना का होना आवश्यक है। उदारता, आत्म निग्रह की भावना प्रमुख है। समस्त बुराइयों का स्रोत व्यक्तिवाद है। प्लेटो शासन के सम्बन्ध में परम्परागत विचारधारा का अनुयायी है। राज्य और व्यक्ति का सहयोग है। वे एक दूसरे के पूरक हैं। प्लेटो परिवार को एक कल्याणकारी संस्था के रूप में नहीं मानता। राज्य की महत्ता परिवार से अधिक है। पोषण तथा शिक्षण के लिये राजकीय नियन्त्रण आवश्यक है। वह नारी को राज्य के हर कार्य के योग्य समझता था। उसका विचार था "शिक्षा ही वह सर्वोत्तम वस्तु है जिसे सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति कभी पा सकते हैं।"

प्लेटो के अनुसार शिक्षा राज्य के द्वारा नियन्त्रित होनी चाहिये। सबकी शिक्षा राजकीय विद्यालयों में सरकार की ओर से होनी चाहिये जिसके दो प्रकार हों--(1) व्यावहारिक कार्यों सम्बन्धी शिक्षा (2) राज्य की सेवा सम्बन्धी शिक्षा। दूसरे प्रकार की शिक्षा को सच्ची शिक्षा कहा है।

पाठ्यक्रम--

व्यक्ति, समाज तथा राज्य की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुये प्लेटो ने शिक्षा के पाठ्यक्रम को निम्न प्रकार निरूपण किया है--

1--प्रारम्भ से पांच वर्ष तक की शिक्षा।

2--6 से 13 वर्ष तक की शिक्षा।

3--13 से 16 वर्ष तक की शिक्षा ।

4--16 से 20 वर्ष तक की शिक्षा ।

5--20 से 30 वर्ष तक की शिक्षा ।

प्रथम वय वर्ग में वर्तमान शिशु शिक्षा की भांति उपयुक्त भोजन, स्वच्छ, स्वतन्त्र एवं अनुकूल वातावरण निर्मित करने, वीर महापुरुषों की कहानियां सुनाने, अच्छे चरित्र एवं व्यवहार का विकास करने पर बल दिया है ।

दूसरे वय वर्ग में (प्राथमिक स्तर) के लिये बालक बालिकाओं के लिये पृथक् शिक्षा की व्यवस्था कर उन्हें संगीत, व्यायाम, खेलकूद, धर्मशिक्षा, नीति शिक्षा, नैतिक शिक्षा को स्थान दिया है ।

तीसरे वयवर्ग के लिये वाद्य संगीत, धार्मिक गीत, कविता, गणित आदि पढ़ाने का प्रस्ताव किया तथा अश्लील साहित्य पढ़ने को मना किया ।

चौथे वय वर्ग की शिक्षा को व्यायाम कला (जिमनास्टिक) की शिक्षा भी कहा गया । इसमें व्यायाम, खेलकूद, घुड़सवारी, युद्ध कला, हथियारों के प्रयोग आदि पर बल दिया ।

पांचवें वय वर्ग को उच्च शिक्षा प्रदान की जानी थी। इसमें गणित, विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन करने तथा तर्क समन्वय आदि क्षमताओं के विकास को पर्याप्त महत्व दिया गया है ।

शिक्षण विधियां--

प्लेटो ने अपने गुरु सुकरात द्वारा मान्य तर्क या वादविवाद विधि को उपयुक्त माना। दूसरी विधि प्रश्नोत्तर की थी । जिसमें तीन सोपान रखे गये 1--वार्तालाप, 2--व्याख्या, 3--परिणाम । प्रयोगात्मक विधि का प्रयोग कौशलात्मक विषयों, विज्ञान, सैनिक शिक्षा, व्यायाम, संगीत आदि के शिक्षण में किया जाता है । अनुकरण एवं स्वाध्याय की विधियां भी प्रयोग की जाती थीं ।

शिक्षा को प्लेटो की देन--

1--सर्वप्रथम प्लेटो ने ही शैशवकाल से लेकर प्रौढ़ावस्था तक की शिक्षा के लिये योजना प्रस्तुत की ।

2--इन्होंने शिक्षा में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का समन्वय किया ।

3--व्यक्ति के हित की तुलना में समाज के हित को अधिक महत्व दिया । वे समाजवादी सिद्धान्त के पोषक थे ।

4--इन्होंने समान बालक और समान शिक्षा के सिद्धान्त पर बल दिया ।

5--प्लेटो ने राज्य के शासकों के लिए दार्शनिक होना आवश्यक माना है । प्लेटो ने शिक्षक को ऊंचा स्थान दिया है ।

इसके अतिरिक्त अपनी शिक्षा योजना में प्लेटो ने कुछ विषयों को अधिक महत्व दिया जिससे पाठ्यक्रम का रूप असंतुलित हो गया जैसे माध्यमिक शिक्षा में विज्ञानों के अध्ययन को तथा 16-20 वय वर्ग की शिक्षा में मात्र सैनिक शिक्षा और व्यायाम को अधिक महत्व देना अपने समय की मान्यता के अनुसार प्लेटो ने औद्योगिक शिक्षा को उचित महत्व नहीं दिया । दासों के लिये प्लेटो ने किसी शिक्षा योजना को स्थान नहीं दिया ।

शिक्षा के लिये प्लेटो द्वारा समाज को निम्न तीन वर्गों में विभाजन किया--

1—उद्यमी वर्ग (Labour and industrial class)

2—सैनिक वर्ग (Police and Military class)

3—दार्शनिक एवं शासक वर्ग (Philosophers and Ruling class)

प्रथम वर्ग के लिए कृषि, व्यापार, काष्ठ उद्योग, शस्त्र निर्माण, बुनाई सिलाई, गृह विज्ञान आदि का अध्ययन करना था।

सैनिक वर्ग के लिए शारीरिक क्षमता स्फूर्ति, साहस, व्यायाम, खेलकूद, घुड़सवारी कला आदि क्रियाओं पर बल दिया।

तीसरे वर्ग की शिक्षा को प्लेटो ने सबसे अधिक बल दिया। इस वर्ग के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भाषण कला, नीतिशास्त्र तथा मनोविज्ञान जैसे विषयों को प्रविष्ट किया।

प्लेटो का विश्वास था कि आदर्श नागरिकों का निर्माण होने से आदर्श समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा।

रुसो

रुसो का पूरा नाम जैकस रुसो था। उसका जन्म जेनेवा में 28 जून, 1712 ई० में हुआ था। जन्म के कुछ दिन बाद ही उनकी माता का देहान्त हो गया। इनके पिता एक घड़ीसाज थे जो पुत्र की तरफ से बहुत ही लापरवाह थे अतः अभागे रुसो को माता-पिता का न तो प्यार मिला न संरक्षण ही। रुसो के नाना पादरी थे। अतः उनके पास कुछ इतिहास तथा वृत्ति विषयक पुस्तकें थी। रुसो ने इन पुस्तकों को पढ़ा। रुसो को कहानी पढ़ने तथा सुनने का भी शौक था। काल्पनिक कहानियों के कारण रुसो काल्पनिक बन गया।

रुसो में कठिनाइयां सहने के कारण वस्तु तथा व्यवहार परखने की विशेष शक्ति थी। उसके व्यवहार की चर्चा चारों ओर होती थी। शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था कुछ वर्ष लैटिन की शिक्षा पाई थी। कुछ ज्ञान ज्योतिष तथा ड्राइंग का भी प्राप्त किया, परन्तु बाल्यकाल में कोई शिक्षा ऐसी न प्राप्त कर सका कि जीविकोपार्जन कर सके। अध्यापकों के छात्र के साथ किए गए दुर्व्यवहार को देख दन्ड विरोधी बन गया, परन्तु जेनेवा के प्राकृतिक दृश्य उसे जी भर को खुशी दे देते थे। कुछ ही धन लाभ के कारण उसने प्रोटेस्टेन्ट धर्म छोड़कर कैथोलिक धर्म स्वीकार कर लिया। 16 वर्ष की आयु में ही घर से निकल पड़ा, पैरिस भी गया। 32 वर्ष की आयु में उसने थेरेसी लवेडीकर नाम की लड़की से साथ शादी की। जीवन की मुसीबतों ने उसे चिड़चिड़ा बना दिया। 2 जुलाई, 1778 को वह संसार छोड़ कर दिवंगत हो गया।

रुसो ने प्लेटो, हाब्स, लाक, वाल्टेयर डेकार्ट और न्यूटन जैसे विद्वानों के ग्रंथ पढ़े तथा अनेक ग्रंथों की रचना कर संसार को बहुमूल्य साहित्य प्रदान किया। रुसो की निम्न रचनायें हैं :--

1. The Progress of Arts and Science.
2. The Origin of the quality among men.
3. The new Heloise.
4. Social Contract.
5. Emile.

रुसो के दार्शनिक विचार--

रुसो प्रकृतिवादी थे। उन्होंने 'प्रकृति की ओर लौटो' आवाज लगाई। उसका निश्छल तथा आडम्बरहीन व्यवहार उसे पसन्द था, क्योंकि उसमें समाज जैसी हलचल, शीघ्रता तथा उत्तेजना नहीं थी। प्रकृति की स्वतन्त्रा, शासनहीनता, मधुरता प्रवाह एवं लय के सुन्दर गुणों ने उसके मन को लुभा लिया। उसन प्रकृति को सब से बड़ा शिक्षक माना। उसके दार्शनिक विचारों के आधार उसके दुखमय जीवन के कटु अनुभव थे। उसने बालक के शारीरिक, मानसिक तथा

चारित्रिक विकास की बात कही । उन्होंने, "शिक्षा एक प्राकृतिक प्रक्रिया है" का निरूपण किया ।

रुसो के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य :—

रुसो मात्र पुस्तकीय ज्ञान के विरुद्ध थे । उन्होंने उद्देश्य प्रणाली तथा एक निर्धारित पाठ्यक्रम को लेकर विद्यालय के सीमित वातावरण में चलने वाली शिक्षा प्रणाली को त्याग कर प्रकृति के स्वतन्त्र एवं सहज वातावरण में निरीक्षण द्वारा छात्रों के शारीरिक, मानसिक व चारित्रिक विकास की बात कही है ।

रुसो के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य—

रुसो व्यक्तिवादी थे । शिक्षा के अन्तर्गत शिक्षक और विषय के स्थान पर शिक्षार्थी को सबसे अधिक महत्व दिया । इसलिए बालक शिक्षा के लिए नहीं अपितु शिक्षा बालक के लिये होनी चाहिये ।

अपनी पांच सौ पृष्ठों की पुस्तक 'एमीता' में रुसो ने अपने शिक्षण सम्बन्धी विचार विस्तार से दिये हैं इसके प्रथम भाग में शैशवावस्था, दूसरे में बाल्यावस्था, तीसरे में किशोरावस्था तथा चौथे भाग में युवा अथवा प्रौढ़ावस्था की शिक्षा पर विस्तार से प्रकाश डाला है । पांचवां भाग स्त्री शिक्षा से सम्बन्धित है ।

रुसो की शिक्षा सम्बन्धी उद्देश्य निम्नलिखित है :—

1—बालक का शारीरिक विकास ।

2—क्रियात्मक अभ्यास ।

3—बौद्धिक विकास ।

4—हृदय का विकास ।

5—जीवन जीने की कला का विकास ।

6—स्वतन्त्रता की प्राप्ति का उद्देश्य ।

रुसो के अनुसार पाठ्यक्रम—

रुसो ने शिक्षा के तीन स्रोत माने हैं—प्रकृति, मनुष्य, वस्तु । प्रकृति विज्ञान, भूगोल आदि का सम्बन्ध प्रकृति से है । भाषा, साहित्य, इतिहास तथा राजनीतिशास्त्र, जैसे विषयों का सम्बन्ध मनुष्य से तथा पदार्थ विज्ञान, गृह विज्ञान, हस्तशिल्प आदि का सम्बन्ध वस्तु से है । रुसो ने बालक की अवस्था के अनुसार ही पाठ्यक्रम का क्रम निर्धारित किया है :—

1—जन्म से 5 वर्ष ।

2—5 से 12 वर्ष ।

3—12 से 15 वर्ष ।

4—15 से 20 वर्ष ।

5—20 वर्ष के बाद ।

शिक्षा पर रुसो का प्रभाव—

प्रसिद्ध विद्वान 'रस्क' का कथन है, "आधुनिक शिक्षा में रुसो का वही स्थान है जो प्लेटो का प्राचीन शिक्षा में था" रुसो के दार्शनिक विचारों ने शिक्षा के क्षेत्र में तीन प्रकृतियों

1—मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ।

2—वैज्ञानिक प्रवृत्ति ।

3—सामाजिकतावादी प्रवृत्ति ।

मनोवैज्ञानिक प्रवृति के कारण शिक्षा में मनोविज्ञान का प्रवेश हुआ, जिसकी मान्यता पेस्टलाजी द्वारा स्थापित हुई । वैज्ञानिक प्रवृत्ति के फलस्वरूप विज्ञान की उपयोगिता बढ़ी तथा पाठ्यक्रमों में विज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ । सामाजिकतावादी प्रवृत्ति के द्वारा शिक्षा में जनतान्त्रिक भावना का विकास हुआ, जिसने जन-शिक्षा को महत्व प्रदान किया । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन भी हुये जो रुसो के शिक्षा पर प्रभाव को स्पष्ट करते हैं । शिक्षा जगत के लिए यह रुसो की अमूल्य देन है :--

1--शिक्षा का बालकेन्द्रित होना ।

2--आयु-क्रम के अनुसार पाठ्यक्रम का होना ।

3--पाठ्यक्रम में विविधता आना ।

4--हाथ, मास्तिष्क तथा हृदय तीनों की समन्वयात्मक शिक्षा पर बल ।

5--औद्योगिक शिक्षा पर बल ।

6--नवीन शिक्षण पद्धतियों का जन्म जैसे किन्डरगार्टन, मान्टेसरी, डाल्टन, प्रोजक्ट तथा बेसिक शिक्षा प्रणाली आदि ।

यद्यपि रुसो का स्वयं का समस्त जीवन अति काटदायी बीता, परन्तु उसके अमूल्य विचारों के लिए विश्व सदैव आभारी रहेगा ।

जान डीवी

जीवन परिचय--

प्रयोगवादी शिक्षा शास्त्री जान डीवी का जन्म उत्तरी अमरीका में न्यूइंग्लैंड स्टेट के बरमान्ट में स्थित बर्मिग्टन नामक नगर में 1886 ई० में हुआ था । 19 वर्ष की अवस्था में बरमान्ड विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया । इनका मुख्य विषय दर्शन था । जान हापकिन्स विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की । इस उपाधि को लेने के पश्चात् वे 1903 तक मिशीगन और शिकागो विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य करते रहे । 1904 में वे कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुये । वे इस पद पर वे 1930 तक आसीना रहे । इसके पश्चात् भी अपनी मृत्यु के समय तक (1952 ई०) इस विश्वविद्यालय से सम्बन्ध बनाये रखा । 1919 में व्याख्यान देने टोकियो गये तथा दो वर्ष चीन में भी रहे । जीवन काल में ही इनको इतनी ख्याति मिल गई कि संसार के विभिन्न कोनों से उनके लिये भाषण देने के लिए निमन्त्रण आते थे । जीवन के अंतिम समय तक ये संसार की सेवा करते रहे । 1952 ई० में इनका स्वर्गवास हुआ ।

जान डीवी ने अपने जीवन काल में लगभग 50 पुस्तकों की रचना की, जिनमें उनकी लगन, अन्तर्दृष्टि और अनुभव स्पष्ट परिलक्षित होता है । उनकी कुछ रचनायें निम्न हैं :--

डीवी का शिक्षा दर्शन एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार--

1--The School and Society.
2--The School and the Child.
3--The School of tomorrow
4--Democracy and Education.
5--Reconstruction in Phyiosophy.
6--Freedom and Culture.
7--How we think.
8--Educational Essays.
9--Interest and efforts in Education
10--Interest is related to will.
11--My Pedagogical creed.
12--Sources of Science of Education.
13--Human Nature and Conduct.
14--The elementary School Record.

डीवी का शिक्षा दर्शन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वे प्रयोगवादी विचारक थे। वे उसी को सत्य मानते थे। जो व्यवहार की कसौटी पर खरी उतरे। उन्होंने यथार्थ को भी परिवर्तनशील बताया है। प्रयोगवादी शिक्षा का कोई उद्देश्य निर्धारित नहीं करते। उनका कथन है कि मानव की आवश्यकतानुसार उद्देश्यों में भी परिवर्तन होता रहता है। अतः शिक्षा के उद्देश्य भी नहीं बनाए जा सकते। उनके अनुसार, "शिक्षा अनुभव की होती है, आत्म अनुभव द्वारा होती है तथा अनुभव के लिए होती है।" आगे उन्होंने लिखा है, "शिक्षा एक ऐसी क्रिया है जो सतत रूप से मनुष्यों का नवनिर्माण तथा पुनर्संगठन करती है।"

जान डीवी के अनुसार शिक्षा के दो प्रमुख अंग हैं :—

(1) सामाजिक,

2) मनोवैज्ञानिक।

1—सामाजिक—अंग से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है कि बालक सामाजिक रूप से एक कुशल और समर्थ व्यक्ति बन सके। ऐसा व्यक्ति वही हो सकता है जो अपनी जीविका की समस्या को हल कर सके, दूसरों की इच्छाओं तथा आवश्यकता का आदर करे तथा उसमें "सामाजिक कुशलता" हो। डीवी ने सामाजिक कुशलता के अन्तर्गत सात प्रकार की योग्यताओं को रखा है :

(1) स्वास्थ्य, (2) क्रिया करने की क्षमता, (3) योग्य गृहस्थ, (4) व्यवसाय, (5) नागरिकता, (6) अवकाश का उचित प्रयोग, (7) नैतिकता और चरित्र।

2—मनोवैज्ञानिक—अंग से तात्पर्य है कि बालक की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों, मूल प्रेरणाओं, मूलशक्तियों आदि पर ध्यान देते हुए शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करना। शिक्षा का आकार व्यक्तिगत रुचियां होना चाहिए तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार व्यक्तिगत विकास के अवसर प्रदान करने चाहिए।

डीवी के अनुसार पाठ्यक्रम—डीवी ने पाठ्यवस्तु को दैनिक आवश्यकताओं के अनुसार सम्बद्ध करने पर जोर दिया है। अतः उन्होंने पाठ्यक्रम निर्माण के कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए हैं :—

1—बालक की रुचि का सिद्धान्त—डीवी ने चार प्रकार की रुचियां बताई हैं, (1) बातचीत की रुचि, (2) निर्माण व रचना की रुचि, (3) खोज करने की रुचि, (4) कलात्मक अभिव्यक्ति की रुचि।

2—उपयोगिता का सिद्धान्त—डीवी के अनुसार पाठ्यक्रम में ऐसे विषय होने चाहिये जो बालक की वर्तमान और भावी जीवन के लिए तैयार करे। अतः पाठ्यक्रम में भाषा, स्वास्थ, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान और शारीरिक शिक्षा को स्थान दिया जाना चाहिये। बालिकाओं के लिए गृह विज्ञान होना चाहिए। उपयोगिता का सिद्धान्त भविष्य के लिए किसी व्यवसाय का प्रशिक्षण आवश्यक मानता है। अतः पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ऐसे विषय चुने जायं जो जीवन की समस्याओं को हल करने में सहायता दें।

3—शैक्षिक अनुभवों तथा सामाजिक समस्या का सिद्धान्त—बालक समाज में रहता है। विद्यालय, समुदाय का अंग है, इसलिए यदि ये क्रियायें समुदाय की क्रियाओं का रूप ग्रहण कर लेंगी तो ये बालक में नैतिक गुणों और स्वतन्त्रता के दृष्टिकोण का विकास करेंगी। साथ ही ये उसे नागरिकता का प्रशिक्षण देंगी।

4—सह सम्बन्ध या एकीकरण का सिद्धान्त—डीवी के अनुसार प्रत्येक विषय को अलग-अलग करके बिना सह सम्बन्ध स्थापित किए पढ़ाना भ्रमात्मक है। अतः भाषा गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान, कृषि और कला आदि विषय एक दूसरे से सह-सम्बन्धित करके पढ़ाये जायं।

डीवी के अनुसार शिक्षा विधियां--शिक्षा विधियां ऐसी होनी चाहिये कि जिसमें बालक पूर्णरूपेण भाग ले सकें। बालक प्रायः संवेगशील, क्रियाशील तथा भावुक होते हैं। अतः ऐसी शिक्षा विधियों को अपनाया जाय कि जिसमें बालक सक्रिय रहें, स्वयं खोज कर तथा ज्ञान को सही अर्थ में प्राप्त करने का प्रयास करें।

जान डीवी द्वारा कुछ शिक्षा विधियां निम्न हैं :--

1--प्रोजेक्ट विधि (योजना--विधि) यह विधि बालक की समस्याओं को हल करने के लिए प्रयास करे। डीवी का विचार है कि यह विधि बौद्धिक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखती है।

2--सह-सम्बन्ध विधि --डीवी ने सह-सम्बन्ध विधि के प्रयोग पर भी बड़ा जोर दिया है। उनका कथन है कि यद्यपि ज्ञान के अनेक पहलू हैं, फिर भी उनमें एकता है। इसलिए ज्ञान को खंडों में नहीं बांटा जाना चाहिये। बालक को जो भी विषय पढ़ाये जायं उनका 'एकीकरण और समन्वय' किया जाय।

3--क्रिया अनुभव द्वारा सीखने की विधि--डीवी के अनुसार बालक की शिक्षा का भाग वह है जो बालक स्वयं करके सीखता है। बालक को उन परिस्थितियों में रखना चाहिये, जिनका वह सामना करना चाहता है तथा इसके साथ ही उसे वे साधन भी दिये जायं, जिनकी सहायता से वह उनका सफलतापूर्वक सामना कर सके।

शिक्षा जगत को डीवी की महान देन--

डीवी की विचारधारा का शैक्षिक प्रक्रिया के अंगों पर निम्नलिखित ढंग से प्रभाव पड़ा :--

1--विद्यालयों के कार्यों में समाज के परिवर्तन के अनुकूल परिवर्तन लाना अच्छा समझा जाने लगा।

2--विद्यालयों को समाज का लघुरूप समझा जाने लगा।

3--बालक के अनुभव के आधार पर शिक्षा देना अच्छा समझा जाने लगा।

4--विद्यालय को समाज के उत्थान का साधन माना जाने लगा।

5--शिक्षा को नवीन अर्थ प्रदान किया गया।

6--बालक की शिक्षा में व्यक्तिगत रुचियों तथा योग्यताओं के आधार पर बल दिया गया।

7--शिक्षा को सक्रियता प्रदान की गई।

8--शिक्षा देने में हस्तकला आदि को प्रधानता दी गई।

9--विद्यालय में सामूहिक कार्यक्रम को प्रोत्साहन देना अच्छा समझा जाने लगा।

10--विद्यालयों का कार्य जनतन्त्र की भावना का विकास भी समझा जाने लगा।

11--शिक्षा के उद्देश्य तथा पाठ्यक्रम पर विचार होने लगा।

12--अध्यापन का स्थल महत्वपूर्ण माना जाने लगा।

जान डीवी के विचारने का ढंग अन्य शिक्षाविदों से कुछ भिन्न ही था। वे दार्शनिक अवश्य थे क्योंकि कई दार्शनिकों का उनके विचारों पर प्रभाव पड़ा, जिससे संशोधन तथा परिवर्तन भी हुए। उनकी विचारधाराएं आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोगवाद, साधनवाद से प्रभावित थी। उनके अनुसार ज्ञान भावनाएं और सिद्धान्त साधन हैं, जिससे मानव ऊपर उठता है, साध्य नहीं। उनके विचार जनतांत्रिक, वैज्ञानिक, आदर्श, प्रकृति आदि से प्रभावित थे। उनके अनुसार ज्ञान, क्रिया के बाद होता है और क्रिया अनुभव के बाद अर्थात पहले अनुभव फिर क्रिया अन्त में ज्ञान होता है। अतः अनुभव को ज्ञान का स्रोत माना। समस्या के समाधान हेतु चिन्तन होता है, चिन्तन और मनन एकान्त में नहीं, समस्या उठ खड़ी होने पर उसके

समाधान हेतु होता है । समस्या सरलता से हल होने पर चिन्तन नहीं होता । सोचने विचारने की समाप्ति समस्या समाधान के साथ ही हो जाती है । उनके अनुसार आदर्श और मूल्य शाश्वत नहीं हो सकते क्योंकि दोनों का सम्बन्ध परिवर्तनशील संसार से है । अतः इनमें भी परिवर्तन होना चाहिए । मनुष्य जो कुछ, जहां कहीं, जब कभी अनुभव करता है, उन्हीं के अनुसार आदर्श और मूल्यों से सम्बन्धित विचार और विश्वास बनते हैं । देश, काल तथा स्थिति के अनुसार इनमें परिवर्तन होते रहते हैं ।

जान डीवी ने शिक्षा के उद्देश्यों की तीन विशेषतायें बताई हैं :--

(1) यह छात्रों की क्रियाओं तथा आवश्यकताओं पर आधारित होते हैं,

(2) यह छात्रों का सहयोग प्राप्त करती हैं ।

(3) ये विशिष्ट और तात्कालिक होते हैं सामान्य और अन्तिम नहीं ।

उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर निम्न उद्देश्य निर्धारित किये जा सकते हैं :--

(1) गतिशील व लचीले मस्तिष्क के विकास का उद्देश्य--शिक्षा का उद्देश्य एक गतिशील अनुकूलन योग्य मन का विकास करता है जो सभी स्थितियों में साधन सम्पन्न और साहस युक्त हों--ऐसा मन जिसमें अज्ञात भविष्य के मूल्यों के निर्माण की शक्ति हो । डीवी बालक की आवश्यकता, इच्छा, तथा रुचियों को महत्व देता है । अतः इनका ठीक मार्गदर्शन शिक्षा का ध्येय होना चाहिये ।

(2) मूल्यों व आदर्शों के निर्माण का उद्देश्य --बालक को स्वयं अपने मूल्य व आदर्शों का निर्माता होना चाहिये । ऐसी शक्ति बालक को प्रदान करने वाली हमारी शिक्षा होनी चाहिये ।

(3) आत्मानुभूति का उद्देश्य--प्रत्येक बालक में व्यक्तिगत भिन्नता होती है । अतः स्वाभाविक है कि भिन्न-भिन्न मात्रा में कार्यों के करने म सफलता तथा असफलता मिले । ऐसी स्थिति में उसे आत्मानुभूति अवश्य होगी । यह बात सामाजिक परिस्थितियों में अनुकूलन स्थापित होने में होती है । इन परिस्थितियों के अन्तर्गत ही व्यक्ति को अपनी निजी शक्तियों, योग्यताओं एवं क्षमताओं की अनुभूति होती है । यही अनुभूति आत्मानुभूति है ।

(4) सामाजिक कुशलता का उद्देश्य--इस उद्देश्य के अनुसार शिक्षा ऐसी हो कि प्रत्येक शिक्षार्थी सामाजिक रूप से एक कुशल और समर्थ व्यक्ति बन सके । ऐसा व्यक्ति वही हो सकता है जो अपनी जीविका की समस्या हल कर सके, दूसरों की इच्छा और आवश्यकताओं का आदर करे तथा जिनमें कार्य कुशलता हो । इस कार्य कुशलता में स्वास्थ्य, क्रिया करने की क्षमता, व्यवसाय, नागरिकता, अवकाश का उचित उपयोग तथा नैतिकता और चरित्र है ।

रवीन्द्र नाथ टैगोर

जीवन परिचय--श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर का जन्म 6 मई, 1861 को कलकत्ते में हुआ । इनके पिता महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर बड़े ही धार्मिक, सुधारवादी एवं कर्मनिठ व्यक्ति थे । बालक रवीन्द्र को देशभक्ति, विद्वता, धर्मप्रियता तथा साधुता आदि गुण उत्तराधिकार में मिले थे जिसने समस्त देश के गौरव को बढ़ाया ।

उन्होंने ओरिएन्टल सेमेनरी, नार्मल स्कूल आदि से शिक्षा ग्रहण की परन्तु उन्हें कटु अनुभव प्राप्त हुए । इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने 'शान्तिनिकेतन' की स्थापना की जो 'विश्वभारती' विश्वविद्यालय के नाम से आज भी विख्यात है । वे बाल्यकाल से ही प्रकृति प्रेमी थ । उनकी शिक्षा घर पर अधिक हुई । 16 वर्ष तक घर पर शिक्षा प्राप्त कर बड़े भाई के साथ अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने इंग्लैण्ड गये तथा लंदन विश्वविद्यालय में 3 वर्ष अध्ययन किया । 1881 म भारत लौटने पर 'भारती' तवा 'साधना' नामक पत्रिकाओं में अपने लेख प्रकाशित

किये । बाद में अन्य काव्य ग्रन्थ, उपन्यास, कहानियां तथा निबन्ध साहित्य का सृजन किया ।

1902 से 1905 तक स्वदेशी आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया । तत्पश्चात् एकरत हो शान्तिनिकेतन को ही अपना पूरा समय समर्पित किया । 1912–13, 1916 तथा 1920 से 1930 तक विश्व यात्रायें कीं जो विश्वबन्धुत्व तथा शान्ति के सन्देश से प्रेरित थी ।

1913 में उनकी प्रसिद्ध रचना 'गीतांजलि' पर विश्व का सबसे बड़ा पुरस्कार 'नोबुल पुरस्कार' प्राप्त हुआ । 7 अगस्त, 1941 को इस महान कवि साहित्यकार एवं शिक्षा शास्त्री का देहावसान हो गया ।

टैगोर के शिक्षा सम्बन्धी विचार तथा उनका शिक्षा जगत को योगदान––

रवीन्द्र नाथ टैगोर कवि ही नहीं अपितु महान साहित्यकार, राष्ट्र प्रेमी तथा उच्च कोटि के शिक्षा शास्त्री भी थे । शिक्षा शब्द का अर्थ उन्होंने अति व्यापक रूप में लिया है । अपनी पुस्तक परसनेलिटी में एक स्थल पर लिखा है "सर्वोत्तम शिक्षा वही है जो सम्पूर्ण दृष्टि से हमारे जीवन का सामन्जस्य स्थापित करती है । शिक्षा वह है जो मानव को 'पूर्ण मनुष्यत्व' प्रदान करती है ।" टैगोर के शिक्षा सम्बन्धी विचार निम्नलिखित हैं :––

(1) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो ।

(2) शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की जन्म-जात शक्तियों का विकास कर उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण एवं सामंजस्यपूर्ण विकास करना होना चाहिये ।

(3) शिक्षा को समुदाय के जीवन से जुड़ा होना चाहिये ।

(4) छात्रों को नगर की गन्दगी से दूर प्रकृति के घनिष्ठ सम्पर्क में रख कर प्रकृति के उपादानों द्वारा ही शिक्षा दी जानी चाहिये ।

(5) छात्रों में संगीत, अभिनय तथा चित्रकला सम्बन्धी योग्यताओं का विकास किया जाना चाहियें ।

(6) उन्हें भारतीय समाज की पृष्ठ भूमि का स्पष्ट ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिये ।

टैगोर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य––टैगोर द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्य इस प्रकार हैं :––

(1) बालक को पूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करने के लिये उसका पूर्ण विकास करना ।

(2) बालक के विभिन्न अंगों तथा इन्द्रियों को प्रशिक्षित करना ।

(3) वास्तविक जीवन की परिस्थितियों तथा पर्यावरण की जानकारी देकर उनके साथ अनुकूलन स्थापित कराते हुए बालक का बौद्धिक विकास करना ।

(4) बालक में आत्मानुशासन, धैर्य, सहिष्णुता, आन्तरिक स्वतंत्रता तथा आन्तरिक शक्ति एवं ज्ञान के मूल्य का बोध कराकर उसका आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास करना ।

टैगोर के अनुसार पाठ्यक्रम––

टैगोर ने शिक्षा का उद्देश्य "पूर्णजीवन की प्राप्ति" को माना है । इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु इन्होंने पाठ्यक्रम के अन्तर्गत जिन विषयों तथा क्रियाओं को रखा है उन्हें निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है :

(1) विषय––साहित्य, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, प्रकृति अध्ययन आदि ।

(2) क्रियायें—भ्रमण, बागबानी, अभिनय, प्रयोगशाला, कार्य परिवेशीय अध्ययन, पेन्टिंग आदि ।

(3) पाठ्यक्रमेतर क्रियायें—खेलकूद, समाज सेवा आदि ।

टैगोर का शिक्षा में योगदान—

1—शिक्षा बालक के जन्मजात गुणों के विकास के लिये होनी चाहिये ।

2—शिक्षा को बालक के विकास के लिये उत्तम मानसिक भोजन बताया है ।

3—ललित कलाओं का विकास बालक को विशेषता प्रदान करता है ।

4—शिक्षण हेतु शान्त तथा एकान्त वातावरण चाहिये ।

5—शिक्षण का माध्यम मातृभाषा हो ।

6—शिक्षण विधियां वास्तविक परिस्थितियों से सम्बन्धित होनी चाहिए ।

7—पाठ्यक्रम में भारतीय दर्शन को प्रधानता दी जाय ।

8—जनसाधारण को विज्ञान की शिक्षा दी जाय ।

9—बालक को भारतीय संस्कृति का ज्ञान अवश्य कराया जाये ।

10—टैगोर ने सभी दर्शनों के महत्वपूर्ण तथा उपयोगी भागों को अपनाया है ।

11—शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना निहित होनी चाहिये ।

टैगोर प्रकृति के अनन्य भक्त थे । उनका कथन है कि उन्होंने अपने ज्ञान का अधिकांश भाग प्रकृति से प्राप्त किया । वे जहां सहृदय कवि, महान साहित्यकार तथा उत्कृष्ट राष्ट्रप्रेमी थे वहीं वह विद्वान शिक्षा शास्त्री भी थे । उनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों में आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, यथार्थवाद तथा प्रयोजनवाद की प्रायः सभी विशेषताओं के दर्शन हो जाते हैं ।

श्री अरविन्द

भारतीय शिक्षाविदों में महायोगी अरविन्द का एक प्रमुख स्थान है । श्री अरविन्द एक युग पुरुष थे । वे एक राजनीतिज्ञ, विचारक, राष्ट्रवादी तथा प्रबुद्ध चिन्तक होने के साथ भारतीय स्वतंत्रता संग्राम सेनानी भी थे ।

श्री अरविन्द का जन्म 15 अगस्त, 1872 ई० में कलकत्ते में हुआ था । उनके पिता का नाम डा० कृष्णधन घोष तथा माता का नाम श्रीमती स्वर्णलता देवी था । श्री अरविन्द की आरम्भिक दीक्षा दार्जिलिंग के लोरेटो कान्वेन्ट में हुई थी । सात वर्ष की आयु में श्री घोष अपने दोनों भाइयों के साथ इंग्लैण्ड शिक्षा प्राप्त करने गये । इंग्लैण्ड में वे मेनचेस्टर के एक पादरी विलियम एच० ड्रएट के साथ रहते थे । इसी वातावरण में उन्होंने धर्म एवं शिक्षा को गले लगाया तथा थोड़े ही समय में लैटिन एवं ग्रीक भाषाओं में वे पारंगत हो गये । तत्पश्चात् केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रवेश किया तथा आई० सी० एस० की प्रतियोगी परीक्षा में ग्यारहवां स्थान पाकर भारत का नाम उज्ज्वल किया । किन्तु घुड़सवारी में जानबूझ कर सम्मिलित न होने के कारण उक्त पद न धारण कर सके । 1893 में 14 वर्ष बाद श्री अरविन्द भारत लौटे ।

इंग्लैण्ड में उनकी भेंट बड़ौदा के प्रबुद्ध प्रशासक सत्याजी राव गायकवाड़ से हुई तथा भारत लौटने पर बड़ौदा की सेवा स्वीकार की, परन्तु 1907 में वापिस बंगाल चले गये ।

1905 से 1910 तक की अरविन्द ने राजनीति में भाग लिया। बाल्यकाल से ही वे स्वतंत्रता पुजारी थ। बाद में वे बंगाल के क्रान्तिकारी नेता बने। देशद्रोह के अपराध में वे बन्दी भी बने। जेल में ही उन्हें कुछ आध्यात्मिक अनुभव हुए। अतः उन्होंने राजनीति से सन्यास ले लिया। पाण्डिचेरी में उन्होंने अपनी साधना प्रारम्भ की जहां एक फ्रान्सीसी महिला मिरा रिशार से बहुत सहायता मिली। 5 दिसम्बर, 1959 को श्री अरविन्द की मृत्यु हुई।

श्री अरविन्द एक महायोगी थे। उन्होंने पूरे जीवन को योग की संज्ञा दी। उनके अनुसार मनुष्य उच्च स्तर की चेतना और शक्तियों को प्राप्त कर महामानव बन सकता है।

श्री अरविन्द उच्चकोटि के कवि भी थे उन्होंने भारतीय तथा अंग्रेजी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। अनेक संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद भी किया जिससे इन ग्रंथों को एक नवीन अर्थ की प्राप्ति हुई। उन्होंने लगभग 45 ग्रंथों की रचना की। सावित्री उनका सबसे प्रसिद्ध महाकाव्य है।

शिक्षा सम्बन्धी विचार—श्री अरविन्द ने शिक्षा के विषय में कहा है, "सच्ची और वास्तविक शिक्षा केवल वह है जो मानव की अन्तर्निहित समस्त शक्तियों को इस प्रकार विकसित करती है कि वह उससे पूर्णरूपेण लाभान्वित होता है।

उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं :—

(1) शिक्षा बालकेन्द्रित होनी चाहिये।

(2) बालक का चारित्रिक एवं नैतिक विकास किया जाना चाहिये।

(3) शिक्षा को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाना चाहिये।

(4) शिक्षा द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास होना चाहिये।

(5) शिक्षा में आध्यात्मिकता तथा धार्मिक विचारों को स्थान दिया जाना चाहिये।

(6) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिये।

(7) नैतिक तथा चारित्रिक विचारों को व्यवहार में लाना सिखाया जाय।

(8) शिक्षा द्वारा बालक की चिन्तनशीलता का विकास करना चाहिये।

(9) शिक्षक को बालक के मित्र तथा पथ प्रदर्शक के समान होना चाहिये।

(10) बालक का शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक और संवेगात्मक विकास करके समाज के अनुकूल मानव बनाया जाय।

(11) शिक्षा द्वारा बालक की आत्माभिव्यक्ति तथा आत्म अनुशासन को प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

(12) बालक के इन्द्रिय संयम तथा ब्रह्मचर्य पर पूर्ण बल देना चाहिये।

शिक्षा दर्शन—अरविन्द के अनुसार शिक्षा का उपयोग मस्तिष्क के विकास तथा प्रशिक्षण के लिये किया जाता है। मानव की ज्ञानेन्द्रियां जो अनुभव ग्रहण करती हैं उनका सम्बन्ध मानव के वास्तविक मस्तिष्क से होता है। बुद्धि ही ज्ञान को संगठित करती है। अरविन्द ने बालक की शिक्षा में बुद्धि को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। चेतना शक्ति के विषय में श्री अरविन्द का विचार है कि चेतना शक्ति वह शक्ति है जो पूर्णतः विकसित नहीं है। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह इस शक्ति के विकास में बालक को सहायता दे।

शिक्षा का अर्थ—"शिक्षा मानव के मस्तिष्क और आत्मा की शक्तियों का निर्माण करती है। यह ज्ञान, चरित्र और संस्कृति को समृद्धिशाली बनाती है"—अरविन्द

शिक्षा के उद्देश्य—श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

(1) आध्यात्मिक विकास—उनके विचार से शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का आध्यात्मिक विकास करना है। जिससे वह दिव्यता को प्राप्ति कर सके॥

(2) सद्गुणों का विकास।

(3) मानसिक विकास।

(4) क्षमताओं का विकास।

(5) राष्ट्रीयता का विकास।

(6) तर्क शक्ति का विकास।

(7) शारीरिक विकास।

पाठ्यक्रम—श्री अरविन्द ने प्रत्येक स्तर के लिये अलग-अलग पाठ्यक्रम रखा है जो निम्न प्रकार हैं :—

(1) प्राथमिक स्तर—इस स्तर के बालकों के लिये मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, गणित, सामान्य विज्ञान, सामाजिक अध्ययन तथा चित्रकला को सम्मिलित किया।

(2) माध्यमिक स्तर के लिये— मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, गणित, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान, शरीर विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, सामाजिक अध्ययन तथा चित्रकला आदि विषय हैं।

(3) विश्वविद्यालय स्तर—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, भारतीय तथा पाश्चात्या दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अंग्रेजी साहित्य, सभ्यता का इतिहास, जीवन का विज्ञान, गणित, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, विज्ञान का इतिहास, फ्रेंच साहित्य आदि प्रमुख विषय हैं।

व्यावसायिक शिक्षा—काष्ठकला, सामान्य मेकेनिकल तथा इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग, फोटोग्राफी, चित्रकारी, अभिनय, आशुलिपि और टंकण, व्यावसायिक पत्र व्यवहार, सिलाई, कुटीर उद्योग, शिल्पकला सम्बन्धी ड्राइंग, भारतीय तथा योरोपीय संगीता, नृत्य तथा नर्सिंग आदि मुख्य विषय हैं।

शिक्षण विधियां—

(1) समकालिक प्रणाली—इस विधि में अनेक विषयों की शिक्षा एक समय में थोड़ी-थोड़ी दी जाय। यह प्रणाली वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचलित है।

(2) क्रमिक प्रणाली—इस प्रणाली के अन्तर्गत एक बार में एक या दो विषयों के बारे में शिक्षा दी जाती है। अरविन्द इसी शिक्षा प्रणाली का समर्थन करते थे। इसी प्रणाली द्वारा स्मरण शक्ति प्रशिक्षित हो जाती है। इसके अतिरिक्त अरविन्द ने निम्न विधियों को भी उचित समझा है :—

करके सीखना, अनुभव विधि, क्रियात्मक विधि तथा बालकेन्द्रित अन्य विधियों को उचित बताया।

श्री अरविन्द अनुशासित जीवन के समर्थक थे। मनुष्य में तामसिक, राजसिक तथा सात्विक प्रवृत्तियां होती हैं तथा प्रथम दो के कारण विकास में बाधा सी पहुंचती है। इन्हें

नियमित करना अनिवार्य है । वे मातृभाषा पर बहुत बल देते थे । वे जीवन में नैतिकता एवं सदाचार को बहुत बल देते थे । यह शिक्षा महापुरुषों के जीवन चरित्र के माध्यम से सम्भव है । प्राचीन साहित्य भी सहायक सिद्ध हुआ है । बच्चों को धार्मिक जीवन के लिये भी तैयार रहना चाहिये । प्रार्थना, अनुष्ठान, पर्व आदि को महत्व देना चाहिये। शारीरिक शिक्षा भी अच्छी आदतों के निर्माण में सहयोगी होती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री अरविन्द ने शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर पूर्व एवं पश्चिम की विचार धाराओं के परिप्रेक्ष्य में विचार व्यक्त किया है । श्री अरविन्द के शिक्षा सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा व्यवस्था करने के लिये पांडिचेरी में एक आश्रम की स्थापना की गई है । इसके अतिरिक्त एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र एवं विभिन्न शिक्षण संस्थाएं चला रही हैं ।

शिक्षा क्षेत्र में पूर्व एवं पश्चिम तथा आध्यात्म और योग का समन्वय श्री अरविन्द का महत्वपूर्ण योगदान है ।

महात्मा गांधी

जीवन परिचय--हमारे देश के महान नेता शान्तिदूत राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का जन्म काठियावाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान पर 2 अक्तूबर, 1869 ई० में हुआ था । इनके बचपन का नाम मोहनदास कर्मचन्द गांधी था । इनके पिता श्री करम चन्द गांधी पोरबन्दर राज्य के दीवान थे । इनकी माता पुतली बाई धर्मनिष्ठ गृहणी थी । अतः गांधी जी के विचारों पर धार्मिक वातावरण का प्रभाव पड़ा । इनकी प्रारम्भिक शिक्षा पोरबन्दर में ही हुई, तदोपरान्त राजकोट में 1885 ई० में उन्होंने मेट्रिक पास किया । गांधी जी के पिता का देहान्त हो चुका था अतः अपनी माता एवं बड़े भाई से आज्ञा प्राप्त कर बैरिस्टरी पास करने इंग्लैण्ड चले गये । सन् 1891 में वे बैरिस्टर हो कर भारत लौटे तथा वकालत करने लगे । तभी एक मुकदमे की पैरवी करने हेतु उन्हें दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा । 1893 में वे दक्षिणी अफ्रीका की दशा देख कर रो दिये कि मानव का मानव के साथ कैसा क्रूरतापूर्ण व्यवहार है । अफ्रीका में भारत की ही भांति अंग्रेजों का एक छत्र शासन था । वहां बसे भारतीयों के साथ गोरे लोगों के व्यवहार को देख उनकी आत्मा घृणा से चीत्कार कर उठी । यहीं से बापू का वास्तविक जीवन प्रारम्भ होता है । उन्हें अपना कर्त्तव्य समझने में तनिक भी समय न लगा । वे 1914 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे तथा राजनीति में प्रवेश किया । उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता के आन्दोलन का नेतृत्व किया । भारतीयों के जन-जन में स्वतंत्रता के प्रति चेतना भर दी । उनकी एक ही पुकार पर भारत का बच्चा-बच्चा स्वतन्त्रता के लिए प्राणों की बाजी लगाने को तैयार हो गया । गांधी जी के ही प्रयत्नों का परिणाम था कि अंग्रेज भारत छोड़ने को विवश हो गये । उनका नारा केवल एक था 'सत्य अहिंसा' ।

गांधी जी के अथक प्रयास से 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हो गया । पाकिस्तान का बंटवारा हुआ । परन्तु एक समय में एक व्यक्ति समस्त जनता को प्रसन्न नहीं कर सकता । हिन्दू-मुस्लिम एकता हेतु बापू ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी । एक पागल नाथू राम गोडसे ने बापू को गोली मार कर 30 जनवरी, 1948 को हत्या कर दी । वह दिवंगत आत्मा आज भी भारत के कण-कण में व्याप्त है पृथ्वी पर जब तक मानव है गांधी को राम, कृष्ण की तरह पूजता रहेगा ।

गांधी जी का जीवन दर्शन--गांधी जी विश्व के महानतम व्यक्तियों में से एक थे । उनके जीवन दर्शन ने न केवल भारतीय अपितु समस्त विश्व को प्रेरणा प्रदान की । प्रसिद्ध विद्वान रोमियां रोला ने गांधी जी के लिये लिखा है, "गांधी जी वह मनुष्य थे जिन्होंने करोड़ों व्यक्तियों को विद्रोह करने के लिये तैयार किया । जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें हिला दीं और जिन्होंने पिछले दो हजार वर्षों की मानव राजनीति में सब से शक्तिशाली धार्मिक बूट दिया ।" अंग्रेजी साम्राज्य जिसमें 24 घन्टे में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, गांधी जी के ही कारण इतिहास पलट गया ।

गांधी जी ईश्वर के अनन्य भक्त थे। वे ऐकेश्वरवादी थे। उनका कथन था, "मैं ईश्वर की पूर्ण एकता में और इसलिये सारी मानवता की पूर्ण एकता में विश्वास करता हूं।" गांधीजी को अंग्रेज—मानव से घृणा न थी अंग्रेज शासक से अवश्य थी। गांधी जी के जीवन दर्शन का विश्लेषण करने पर उसमें हमें चार महत्वपूर्ण तत्वों के दर्शन होते हैं ये हैं सत्य, अहिंसा, निर्भयता और सत्याग्रह।

गांधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचार—गांधी जी ने शिक्षा को जन-जन तक पहुंचाने का अनुभव किया। वे भारतीयों को ऐसी शिक्षा देना चाहते थे जो लोगों को केवल साक्षर ही नहीं बनाती बल्कि उनमें नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक चेतना का भी विकास करने वाली हो। शिक्षा ऐसी हो जो बालक/बालिकाओं में श्रम के प्रति निष्ठा उत्पन्न करे तथा जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। केवल साक्षरता मात्र के लिये शिक्षा को गांधी जी ने कभी स्वीकार नहीं किया।

शिक्षा का अर्थ—शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करते हुए गांधी जी ने स्वयं कहा है, "शिक्षा से मेरा अभिप्राय है बालक और व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में पाये जाने वाले सर्वोत्तम गुणों का चतुर्मुखी विकास" उनका कथन है, "साक्षरता न तो शिक्षा का अन्त है न आरम्भ।" "यह एक केवल साधन है जिसके द्वारा पुरुष एवं स्त्री को शिक्षित किया जा सकता है।"

व्यक्ति का एकांगी विकास शिक्षा का उद्देश्य नहीं। गांधी का मत प्लेटो से मिलता है जिसमें सर्वांगीण विकास की बात कही गई है। यही समीचीन भी है।

गांधी जी के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य—गांधी जी शिक्षा का सम्बन्ध भौतिक जगत तथा पारलौकिक जगत दोनों से बतलाते हैं। इसलिये इनके अनुसार शिक्षा के दो उद्देश्य हैं जो निम्नलिखित हैं :—

(1) शिक्षा का तात्कालिक उद्देश्य।

(2) शिक्षा का सर्वोत्तम उद्देश्य।

(1) शिक्षा का तात्कालिक उद्देश्य :—

(अ) जीविकोपार्जन सम्बन्धी उद्देश्य—अर्थात् शिक्षा ऐसी हो जो जीवकोपार्जन का साधन प्रदान करे।

(आ) चरित्र विकास का उद्देश्य—गांधी जी ने चरित्र निर्माण को शिक्षा का सब से प्रमुख उद्देश्य माना है।

(इ) सांस्कृतिक उद्देश्य—गांधी के शब्दों में, "मैं शिक्षा के साहित्यिक पक्ष के स्थान पर सांस्कृतिक पक्ष को अधिक महत्व देता हूं"।

(ई) सामन्जस्य पूर्ण व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य—गांधी जी ने शरीर के विकास पर पर्याप्त बता दिया है। अतः बालकों को उचित व्यायाम का प्रशिक्षण दिया जाय।

(उ) सभी प्रकार की दासता से मुक्ति का उद्देश्य—यह दासता आर्थिक, राजनीतिक, मानसिक आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है।

गांधी जी के शिक्षा सम्बन्धी आधारभूत सिद्धान्त :—

(बुनियादी शिक्षा)

1—सात वर्ष तक निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा प्रत्येक बालक—बालिका को प्रदान की जानी चाहिये।

2—शिक्षा का उद्देश्य बालक के अन्दर निहित आन्तरिक गुणों का विकास करना होना चाहिये।

3--शिक्षा को बेरोजगारी से एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिएँ।

4--शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिये ।

5--शिक्षा स्वावलम्बी हो तथा किसी उद्योग पर आधारित हो ।

6--विषयों को अलग-अलग न पढ़ा कर सम्बद्ध करके पढ़ाया जाय ।

7--शिक्षा द्वारा बालक के शरीर, हृदय, मस्तिष्क का सामन्जस्यपूर्ण विकास होना चाहिये ।

जीवन की अन्तिम वास्तविकता का अनुभव अथवा आत्मानुभूति का ज्ञान ही गांधी जी के अनुसार शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य है । इस नश्वर शरीर में अनश्वर तत्व को पहचानना ही आत्मानुभूति है । गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "आत्मा का प्रशिक्षण स्वयं एक महान कार्य है । आत्मा का विकास करना चरित्र का निर्माण करना है और व्यक्ति को ईश्वर तथा आत्मानुभूति के लिये कार्य करने के योग्य बनाना है ।"

बुनियादी शिक्षा का पाठ्यक्रम

गांधी जी ने बुनियादी शिक्षा में निम्न विषयों का समावेश किया है :--

1--आधारभूत उद्योग (शिक्षा)--कताई बुनाई, कृषि, बागवानी तथा अन्य स्थानीय उद्योग ।

2--मातृ भाषा ।

3--गणित ।

4--सामाजिक अध्ययन--इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र ।

5--सामान्य विज्ञान ।

6--कला--ड्राइंग एवं संगीत ।

7--शारीरिक शिक्षा--खेल-कूद और व्यायाम ।

8--हिन्दी--जहां यह मातृभाषा न हो ।

शिक्षण विधि

जाकिर हुसेन कमेटी द्वारा गांधी जी की शिक्षण-विधि पर चर्चा निम्न प्रकार है :--

1--लिखना सिखाने से पूर्व पढ़ने की शिक्षा देना ।

2--वर्णमाला के अक्षर सिखाने से पहले आड़ी-तिरछी रेखाएं खींचनी सिखाना ।

3--अनुभव द्वारा सीखना ।

4--करके सीखना ।

5--सीखने की क्रिया में समन्वय स्थापित करना ।

गांधी जी द्वारा शिक्षा में योगदान--शिक्षा जगत को निम्न विचार प्रदान कर गांधी जी ने महत्वपूर्ण योगदान दिया :--

1--शिक्षा द्वारा बालक में आध्यात्मिकता का समावेश हो सकता है ।

2--जो भी शिक्षा दी जाय व्यावहारिक हो ।

3--शिक्षा ऐसी होनी चाहिये कि उसके पश्चात् जीवन यापन की समस्या हल हो सके ।

4—शिक्षा प्रणाली देश की आवश्यकता तथा उपयोगिता के अनुकूल हो ।

5—शिक्षा में हस्तकला एवं व्यावसायिकता को प्राधानता दी जानी चाहिए जिससे देश की अनेक समस्याएं समाप्त हो सकें ।

6—शिक्षा द्वारा व्यक्ति का चरित्र निर्मित किया जा सकता है जो समाज के लिये उपयोगी एवं अनुकूल सिद्ध होगा ।

डा0 एम0 एस0 पटेल ने गांधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, "उनका (गांधी जी) शिक्षा दर्शन अपनी योजना में प्रकृतिवादी, अपने उद्देश्य में आदर्शवादी तथा अपने कार्यक्रम में तथा कार्य विधि में प्रयोजनवादी है । शिक्षा दार्शनिक के रूप में गांधी जी की वास्तविक महानता इस बात में है कि उनके दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोजनवाद की मुख्य प्रवृत्तियां अलग और स्वतंत्र नहीं हैं वरन् मिलकर एक हो गई हैं "।

प्रश्न

1—प्लेटो के शिक्षा सम्बन्धी विचार समझाकर लिखो ।

2—शिक्षा जगत पर रूसो का क्या प्रभाव पड़ा उसके अनुसार शिक्षा के कौन-कौन से उद्देश्य थे ?

3—डीवी का शिक्षा दर्शन एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार अपने शब्दों में लिखो ।

4—अरविन्द घोष के शिक्षा सम्बन्धी विचार तथा निर्देशित पाठ्यक्रम के औचित्य पर अपने विचार लिखो ।

5—टैगोर के शिक्षा एवं दर्शन सम्बन्धी विचार तथा प्रस्तुत पाठ्यक्रम समझा कर लिखो ।

6—गांधी जी का जीवन परिचय देते हुए उनके द्वारा प्रस्तुत शिक्षा सम्बन्धी आधार-भूत सिद्धान्तों का वर्णन करो ।

7—"गांधी जी द्वारा प्रस्तावित बुनियादी शिक्षा ही भारतीयों के लिये अनुकूल शिक्षा प्रणाली प्रस्तुत करती है "।—सिद्ध करो ।

पाठ 6

बेसिक शिक्षा

(1) बेसिक शिक्षा का इतिहास एवं संकल्पना ।

(2) बेसिक शिक्षा का बदलता स्वरूप ।

(1) बेसिक शिक्षा का इतिहास एवं संकल्पना--

कब, क्यों और कैसे

अंग्रेजी शासन काल में भारत में लार्ड मैकाले की योजनानुसार शिक्षा की व्यवस्था की ई थी । इस शिक्षा का उद्देश्य ऐसे भारतीय नवयुवकों को तैयार करना था जो शरीर से ारतीय हों पर मन और मस्तिष्क से अंग्रेजी सभ्यता के पोषक हों । राष्ट्रीय जागृति के थ-साथ इस दूषित एवं दोषपूर्ण शिक्षा व्यवस्था को बदलने की आवश्यकता की अनुभूति मारे राष्ट्रीय नेताओं को हुई ।

सन् 1937 में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भारतीयों के सर्वांगीण विकास के लिये देश की रिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुकूल तथा भारतीय संस्कृति पर आधारित शिक्षा की एक कल्पना प्रस्तुत की। इसी को बेसिक शिक्षा के नाम से जाना जाता है ।

खिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन--

अक्तूबर, 1937 में वर्धा में देश के प्रमुख शिक्षा--शास्त्रियों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया । सम्मेलन में गांधी जी ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया । न्य शिक्षाविदों ने भी अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार रखे । सम्मेलन ने निम्नलिखित चार स्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार किए--

(1) राष्ट्र के समस्त बच्चों को 7 वर्ष तक अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा दी जाय ।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो ।

(3) शिक्षा का केन्द्र कोई हाथ का काम, अथवा उत्पादक शिल्प हो, जिसका चयन बालक के वातावरण को ध्यान में रख कर किया जाय ।

(4) शिक्षा की यह पद्धति धीरे-धीरे बालक के अध्ययन का खर्च निकालने में समर्थ हो सके ।

अंग्रेजी शासन काल में प्रचलित शिक्षा के दुष्परिणाम सामने आने लगे थे । यह शिक्षा मारे सर्वांगीण विकास में बाधक सिद्ध होने लगी थी । हमारे मन में हमारी सभ्यता एवं स्कृति के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न करती थी । हमारे समाज में विघटनकारी प्रवृत्तियों को म दे रही थी । पुस्तकीय ज्ञान पर अधिक बल देने के कारण हमारी बुद्धि को कुन्द और लिकता को नष्ट कर रही थी । शिक्षा सर्वसुलभ नहीं थी । शिक्षा एक सीमित दायरे में दी ती थी । आर्थिक रूप से यह शिक्षा हमें स्वावलम्बी न बनाकर पतनोन्मुखी बना रही थी । ष्ट्रपिता महात्मा गांधी इस बात से भलीभांति अवगत थे कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में शिक्षा का त्वपूर्ण स्थान है ।

हरिजन जुलाई, 1937 में गांधी जी ने अपने शिक्षा विषयक विचारों को प्रकाशित किया :—

"राष्ट्र के रूप में हम शिक्षा में इतने पिछड़े हुए हैं कि यदि हमने शिक्षा के कार्यक्रम को धन पर आधारित किया तो हम राष्ट्र के प्रति शिक्षा के अपने उत्तरदायित्व को सीमित समय में इस पीढ़ी के लिए निर्वाह करने की आशा नहीं कर सकते हैं। अतः मैंने अपनी रचनात्मक योग्यता को ख्याति को संकट में डालकर यह प्रस्ताव करने का साहस किया है कि शिक्षा आत्मनिर्भर होनी चाहिए। शिक्षा से मेरा अर्थ है 'बच्चे एवं मनुष्य को सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना'। अक्षर ज्ञान शिक्षा का न तो अन्त है और न तो प्रारम्भ हो। यह तो एक प्रकार का साधन है जिसके द्वारा नर-नारी शिक्षित किये जा सकते हैं। अक्षर ज्ञान स्वतः कोई शिक्षा नहीं है। अतः मैंने बच्चे की शिक्षा उसे एक उपयोगी शिल्प सिखाकर और जिस समय वह अपनी शिक्षा प्रारम्भ करता है, उसी समय से उत्पादन करने योग्य बनाकर प्रारम्भ करना चाहता हूं। इस प्रकार यदि राज्य विद्यालयों में निर्मित वस्तुओं को लेने का उत्तरदायित्व ले लें तो प्रत्येक विद्यालय को आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है।"

जाकिर हुसैन समिति रिपोर्ट—

उपर्युक्त प्रस्तावों के आधार पर विस्तृत पाठ्यक्रम के निर्माण हेतु डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति बनी। समिति ने दिसम्बर, 1937 और अप्रैल, 1938 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। प्रथम रिपोर्ट में बेसिक शिक्षा योजना के सिद्धान्तों (आधारभूत) उद्देश्यों, शिक्षकों तथा उनके प्रशिक्षण विद्यालयों के संगठन, प्रशासन एवं निरीक्षण तथा कताई-बुनाई के विस्तृत पाठ्यक्रम आदि का उल्लेख किया गया है। द्वितीय रिपोर्ट में समस्त विषयों के पाठ्यक्रम एवं उनके आधारभूत हस्त एवं उत्पादक कार्य से सम्बन्धित करने के उपायों को बताया जायगा।

बेसिक शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त—

हमारे राष्ट्र की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने एक ऐसी आधारभूत शिक्षा पद्धति की संकल्पना प्रस्तुत की जो छात्रों का संतुलित विकास कर उन्हें एक उपयोगी नागरिक बनाने में सहायक हो। इस शिक्षा प्रणाली को बुनियादी तालीम या बेसिक शिक्षा के नाम से जाना जाता है।

बेसिक शिक्षा का अर्थ ऐसी शिक्षा है जो छात्रों को आवश्यक आधारभूत ज्ञान देने के साथ ही उनमें उन उपयोगी कौशलों की क्षमता का विकास कर सके जिससे वे उपयोगी नागरिक बनकर जीवन निर्वाह कर सकें। गांधी जी के मतानुसार बुनियादी या बेसिक शिक्षा जीवन रूपी महल की नींव है, उसका आधार है।

बेसिक शिक्षा के मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

1—7 से 14 वय वर्ग के बच्चों को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा—शिक्षा को अनिवार्य करने का उद्देश्य राष्ट्र के प्रत्येक बालक-बालिकाओं को शिक्षा सुलभ कराना है। शिक्षा प्रत्येक नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। शिक्षा को निःशुल्क इसलिए रखा गया है जिससे निर्धन माता-पिता पर शिक्षा का आर्थिक बोझा न पड़े। अवधि 7 से 14 वर्ष तक इसलिए रखी गई है कि इस अवस्था तक आकर बालक जीवन के लिए आवश्यक आधारभूत ज्ञान प्राप्त कर लेगा और एक उद्योग विशेष में भी वह इतनी क्षमता प्राप्त कर लेगा कि स्वतंत्र रूप से अपना जीवन निर्वाह करने में समर्थ हो सके।

2—शिक्षा का माध्यम मातृभाषा—अंग्रेजों द्वारा इस देश में चलाई गई शिक्षा में प्रारम्भ से ही अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने की व्यवस्था की गई

इससे बालकों पर अनावश्यक बोझ पड़ता था। समय, शक्ति एवं धन की क्षति होती थी। अपनी मातृभाषा के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करना अधिक सरल, सरस बोधगम्य एवं स्थायी होता है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करने में अनेक असुविधाएं होती थी साथ ही बालकों में अपनी मातृभाषा के प्रति हीनता की भावना भी विकसित होती थी। इसीलिए महात्मा गांधी ने बेसिक शिक्षा में मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षा देने की व्यवस्था की।

3--शिल्प केन्द्रित शिक्षा--गांधी जी ने बेसिक शिक्षा में किसी उत्पादक शिल्प को शिक्षा का केन्द्र बनाने पर बल दिया। इसी के माध्यम से अन्य विषयों का ज्ञान कराये जाने की व्यवस्था की गई। कृषि, कताई, बुनाई, टोकरी बनाना आदि किसी उत्पादक शिल्प से सम्बन्धित क्रियाएं कराकर उनसे भाषा, गणित, सामान्य ज्ञान, सामाजिक ज्ञान आदि विषयों को सहज रूप से सम्बद्ध करके पढ़ाने की संकल्पना की गई।

4--स्वावलम्बन--बेसिक शिक्षा के जन्म के मूल में स्वावलम्बन का सिद्धान्त निहित है। उस समय देश के लगभग 10% व्यक्ति ही शिक्षित थे। अंग्रेजी सरकार सभी भारतीयों के शिक्षा के भार को वहन करने के लिए तैयार नहीं थी। गांधी जी के सामने सम्पूर्ण भारतीयों को शिक्षित करने का प्रश्न था क्योंकि वे मानते थे कि बिना शिक्षा के राष्ट्र की उन्नति एवं विकास सम्भव नहीं है। अतः एक ही रास्ता था कि शिक्षा में ऐसी प्रणाली अपनायी जाय जो अपना व्यय भार स्वयं वहन कर सके और दोषपूर्ण शिक्षा को बदलने में समर्थ हो सके। इसीलिए बेसिक शिक्षा में किसी एक उत्पादक शिल्प के शिक्षण का प्राविधान किया गया। इससे दो लाभ होंगे--एक तो शिक्षा और शिक्षण का व्यय निकलेगा और दूसरे बालक उपयोगी ज्ञान प्राप्त करके जीविका कमा सकेंगे।

5--शारीरिक श्रम का महत्व--बेसिक शिक्षा में शिल्प को ज्ञानार्जन का आधार बनाया गया है। इस प्रकार प्रत्येक विद्यार्थी को शारीरिक श्रम करना पड़ेगा और वह श्रम के महत्व को समझेगा। गांधी जी के शब्दों में हमारी आदत हो गई है कि हम गांधी के उद्योग धंधों को कोई चीज नहीं समझते हैं क्योंकि हमने श्रम को शिक्षा से अलग कर दिया है। बेसिक शिक्षा बुद्धिजीवी एवं श्रमजीवी के भेद की खाई को पाटने का कार्य करती है।

6--समवाय का सिद्धान्त--समवाय द्वारा शिक्षा बेसिक शिक्षा का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। बेसिक शिक्षा जीवन की शिक्षा है। अतः उसे जीवन से ही सम्बन्धित करके ही देना अभीष्ट होगा। जीवन के तीन प्रमुख क्षेत्र हैं--प्रकृत, उद्योग एवं समाज। यदि हम इन्हीं तीनों के माध्यम से शिक्षा प्रदान करें तो शिक्षा स्वाभाविक, यथार्थ और व्यावहारिक होगी। बेसिक शिक्षा में सभी विषयों का ज्ञान सह-सम्बन्ध रीति से दिया जाता है।

7--बाल केन्द्रित शिक्षा--बेसिक शिक्षा बाल केन्द्रित शिक्षा है। यह शिक्षा शिक्षण प्रक्रिया में बालक की अभिरुचियों एवं स्वभाव को ध्यान में रखती है। इसीलिए क्रिया करते हुए बालक सीखे पर बेसिक शिक्षा में बल दिया गया है।

8--वर्गविहीन शोषण मुक्त सामाजिक व्यवस्था--बेसिक शिक्षा सार्वजनिक शिक्षा होगी। इसका परिणाम यह होगा कि धीरे-धीरे सम्पूर्ण समाज के व्यक्ति इस शिक्षा से शिक्षित होकर श्रम की ओर झुकेंगे तो अहिंसक रूप में सामाजिक ढांचे में परिवर्तन होगा। उद्योगों का विकेन्द्रीकरण होगा। कुटीर उद्योग धन्धों का विकास होगा और वर्ग भेद मिटाने में बेसिक शिक्षा सहायक होगी।

9--नागरिकता एवं लोकतांत्रिकता--बेसिक शिक्षा आदर्श नागरिकता की दीक्षा प्रारम्भ से ही देती है। यह बालकों को इस योग्य बनाती है कि वे अपने वातावरण

में सूझबूझ से काम लें, देश की उत्पादकता को बढ़ाने में अपना योगदान दें। श्रम को आदर की दृष्टि से देखें और अपने पैरों पर खड़े हों। बालकों में मिल-जुल कर सहयोग तथा सहकारिता के आधार पर कार्य करने की प्रेरणा दी जाती है, उनमें समाज सेवा, त्याग एवं सादगी के गुणों का विकास किया जाता है।

शिक्षा को सर्वसुलभ तथा सर्वव्यापी बनाना लोकतंत्र का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। राष्ट्र के सभी नागरिकों का शिक्षित होना लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है। बेसिक विद्यालयों की व्यवस्था लोकतांत्रिक होती है। इससे बालक में लोकतान्त्रिक गुणों का विकास होता है।

बेसिक शिक्षा की रूपरेखा--

1 -मूल बिन्दु--

(1) बेसिक शिक्षा 7 से 14 वय वर्ग के बालकों के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क है।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा है।

(3) शिक्षा का केन्द्र कोई स्थानीय शिल्प को बनाया जाता है।

(4) विद्यालयों का खर्च बालकों द्वारा शिल्प के उत्पादन से पूरा किया जाय।

2--पाठ्यक्रम--बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय हैं :--

(1) आधारभूत शिल्प--निम्नलिखित विषयों में से कोई एक--

[क] कृषि [ख] कताई-बुनाई [ग] लकड़ी का काम [घ] मिट्टी का काम [ङ] चमड़े का काम [च] मत्स्य पालन [छ] फल, शाक एवं शाक तथा उद्यान कर्म [ज] बालिकाओं के लिए गृह विज्ञान [झ] कोई अन्य शिल्प जिसके लिए भौगोलिक परिस्थितियां अनुकूल हों।

(2) मातृभाषा।

(3) गणित।

(4) सामाजिक अध्ययन--इतिहास, भूगोल एवं नागरिकशास्त्र।

(5) सामान्य विज्ञान -[ ] प्रकृति अध्ययन [ब] वनस्पति विज्ञान [स] प्राणि-शास्त्र [द] रसायनशास्त्र [य] स्वास्थ्य विज्ञान [र] नक्षत्रों का ज्ञान [ल] महान वैज्ञानिकों एवं अन्वेषकों की कहानियां।

(6) कला--रेखाचित्रण एवं संगीत आदि।

(7) हिन्दी--जहां मातृभाषा नहीं है।

(8) शारीरिक शिक्षा (व्यायाम एवं खेलकूद)।

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा है, परन्तु राष्ट्रभाषा अर्थात् हिन्दी का अध्ययन सभी छात्रों के लिए अनिवार्य है।

अध्यापन विधि--

बेसिक शिक्षा प्रणाली में अध्यापन का कार्य क्रियाओं एवं अनुभवों के माध्यम से किया जाता है। विषयों का शिक्षण स्वतंत्र रूप से प्रदान न करके किसी आधारभूत शिल्प के माध्यम से किया जाता है।

अध्यापक--

अध्यापक का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । स्थानीय अध्यापकों को वरीयता दी जानी च हिए ।

बेसिक शिक्षा का बदलता स्वरूप--

बेसिक शिक्षा का आज जो स्वरूप हमारे विद्यालयों में प्रचलित है वह उस स्वरूप से भिन्न है जिसे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने बर्धा शिक्षा सम्मेलन में प्रस्तुत किया था । जिसे सम्मेलन ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया था ।

स्वरूप में समय-समय पर हुए परिवर्तन तथा वर्तमान स्थिति--

1--शिक्षा अवधि में परिवर्तन--बेसिक अथवा बुनियादी शिक्षा की अवधि में भी परिवर्तन होता रहा है । सर्वप्रथम वर्धा शिक्षा योजना (अक्तूबर, 1937) में 7 से 14वर्ष तक के बालकों के लिए 7 वर्ष की बेसिक शिक्षा अवधि स्वीकार की गई थी । खेर कमेटी ने 1938 में 7 वर्ष की अपेक्षा 8 वर्ष, 6 से 14 वर्ष की आयु तक की अवधि निश्चित की । सन् 1945 ई० में गांधी जी ने बुनियादी शिक्षा के साथ पूर्व बुनियादी एवं उत्तर बुनियादी को भी जोड़ दिया । इस प्रकार शिक्षा का क्षेत्र जन्म से लेकर मृत्यु तक मान लिया गया ।

वर्तमान स्वरूप में बेसिक शिक्षा 6-14 वर्ष के बालकों के लिए 8 वर्षीय शिक्षा है । इस 8 वर्ष की अवधि को दो स्तरों में विभाजित कर दिया गया है । प्रथम 5 वर्ष को जूनियर बेसिक शिक्षा तथा 3 वर्ष की सीनियर बेसिक शिक्षा ।

2--शिक्षा के शिल्प केन्द्रित स्वरूप में परिवर्तन--वर्धा शिक्षा सम्मेलन में जो बेसिक शिक्षा का स्वरूप स्वीकार किया गया था । उसमें शिक्षा का केन्द्र कोई हाथ का काम अथवा उत्पादक शिल्प होने को स्वीकार किया गया था । बाद में इसमें परिवर्तन करके शिल्प केन्द्रित न मानकर जीवन केन्द्रित माना गया । प्रकृति एवं सामाजिक वातावरण को भी शिक्षा का आधार बनाने की बात स्वीकार कर ली गई । इस प्रकार बेसिक शिक्षा उद्योग केन्द्रित न रहकर जीवन केन्द्रित बन गई ।

कोठारी शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया कि बेसिक शिक्षा में शिल्प शिक्षण के स्थान पर कार्यानुभव को रखना अधिक उपयोगी होगा ।

3--स्वावलम्बन के सिद्धान्त में परिवर्तन--वर्धा शिक्षा सम्मेलन ने बेसिक शिक्षा के स्वावलम्बी स्वरूप को स्वीकार किया था किन्तु 1938 के हरिपुरा कांग्रेस के बेसिक शिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव में स्वावलम्बन के सिद्धान्त की इस बात पर आलोचना की गई कि इसे मान लेने पर विद्यालयों में उद्योग द्वारा उत्पादन मुख्य हो जायगा तथा शिक्षा गौण । सम्भवतः इसी कारण बेसिक शिक्षा के पुनर्गठन हेतु बनी समितियों ने स्वावलम्बन की बात को निकाल दिया ।

आजकल बेसिक शिक्षा के व्यय का भार केन्द्र तथा राज्य सरकारों पर है ।

4--क्षेत्र में परिवर्तन--सन् 1938 में खेर कमेटी ने यह सुझाव दिया था कि बेसिक शिक्षा योजना के पहले गांवों में चालू किया जाय परन्तु अब इस शिक्षा का क्षेत्र गांवों तक ही सीमित नहीं है । बाद में यह स्वीकार किया गया कि लोगों के मन से यह भ्रम दूर करना होगा कि बेसिक शिक्षा केवल ग्रामीणों के लिए है । शहरवालों के लिए नहीं है । इसे नगरों में भी प्रारम्भ किया गया । नगर के विद्यालयों में बुनियादी उद्योग के चुनाव में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन कर लिए गए ।

5 -बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन--1946 में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम का पुनर्निर्माण करने के लिए एक समिति नियुक्त की । इस समिति ने उपर्युक्त पाठ्यक्रम में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन सुझाया और जिसे 1949 में भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया वह यह था कि चित्रकला, के स्थान पर कला संगीत को एक साथ रखा गया तथा खेल और शारीरिक शिक्षा को एक अलग विषय के रूप में रखा गया ।

समवाय के सिद्धान्त में परिवर्तन--

वर्धा योजना में समवाय को बेसिक शिक्षा की शिक्षणविधि के रूप में स्वीकार किया गया था। पाठ्यक्रम में सभी विषय समवाय विधि से पढ़ाना आवश्यक माना गया। बाद में यह अनुभव किया गया कि ऐसा करना बहुत स्वाभाविक एवं व्यावहारिक नहीं है। 1938 में ही खेर कमेटी ने सुझाया कि कुछ सांस्कृतिक विषयों का उद्योग से समवाय न हो सकने पर उन्हें स्वतंत्र रूप से पढ़ाया जाय। 1939 में पूना सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि बुनियादी उद्योगों के अतिरिक्त सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण भी समवाय के लिये पर्याप्त अवसर प्रदान करते हैं। अतः इनसे भी लाभ उठाया जाना चाहिये।

बेसिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति--

1944 में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने देश में बेसिक शिक्षा को कार्यान्वित करने की सिफारिश की। 1948 को खेर समिति ने योजना के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिये। 1949-50 में भारत सरकार ने देश में बेसिक शिक्षा की योजना को लागू कर दिया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में 6-11 वर्ष वयवर्ग के लगभग 50 प्रतिशत और द्वितीय पंचवर्षीय योजना में लगभग 60 प्रतिशत बच्चों को बेसिक शिक्षा की सुविधायें प्रदान की गईं। तृतीय योजना में 57,760 प्राथमिक विद्यालयों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित किया गया। केन्द्रीय सरकार बेसिक शिक्षा की उन्नति में योग दे रही है। वह राज्य सरकारों को बेसिक शिक्षा पर किये गये व्यय का 30 प्रतिशत वार्षिक सहायता अनुदान के रूप में प्रदान करती है।

बेसिक शिक्षा की समस्याएं एवं कठिनाइयां--

बेसिक शिक्षा भारत के विभिन्न प्रान्तों में सन् 1938 में लागू की गई थी। उस समय से लेकर आज तक एक लम्बी अवधि बीत चुकी है परन्तु बेसिक शिक्षा की उतनी प्रगति नहीं हो सकी है जितनी कि आशा थी। यद्यपि बेसिक शिक्षा प्रणाली प्राचीन शिक्षा पद्धति से कहीं उत्तम है तथापि इसके परिणाम सुन्दर नहीं निकले हैं। बेसिक शिक्षा को वह लोकप्रियता भी नहीं मिल पाई जिसकी अपेक्षा की गई थी। 1949 के भारतीय संविधान की 45वीं धारा में 6-14 वर्ष वयवर्ग के बालक बालिकाओं को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था का प्राविधान था जिसे 10 वर्षों में पूर्ण कर लेने का लक्ष्य था किन्तु 30 वर्षों से अधिक का समय बीत गया है और अभी तक इसकी पूर्ति नहीं हो पायी है।

बेसिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के मार्ग में बाधक बातों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) बेसिक सुविधाओं का अभाव--

1949 के पश्चात स्वतंत्र भारत में 6-14 वर्ष वयवर्ग बालकों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की सुविधा को बढ़ाने की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है परन्तु जनसंख्या के विस्फोट के कारण शिक्षा का सार्वजनीकरण का लक्ष्य अभी दूर ही बना है। विशेषकर जन जातियों तथा पहाड़ी क्षेत्रों में तथा बालिकाओं की शिक्षा में प्रगति कम हो पाई है।

(2) नामांकन न होने की समस्या--

निर्धनता के कारण अधिकांश परिवार अपने बच्चों को विद्यालय नहीं भेज पाते हैं बच्चे आर्थिक रूप में जीविकोपार्जित करने में मदद करते हैं।

बेसिक शिक्षा के विकास के मार्ग में बाधक प्रमुख समस्यायें और कठिनाइयाँ निम्नवत् हैं :--

(1) बेसिक शिक्षा की गलत धारणा--

बेसिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था कि बालकों को किसी लाभप्रद शिल्प की शिक्षा प्रदान की जाय जिससे वे अपनी आजीविका कमा सकें तथा विद्यालयों का भी खर्च निकल सके। इस मूलभूत धारणा को बेसिक शिक्षा से निकाल दिया जाना लाभ नहीं सिद्ध हुआ।

(2) उच्चवर्ग के व्यक्तियों का दृष्टिकोण--

देश के सम्पन्न वर्ग नेता समाजवाद का गुणगान करते हैं तथा बेसिक शिक्षा का गुणगान करते हैं परन्तु जब स्वयं उनके बच्चों की शिक्षा का प्रश्न सामने आता है तो वे अपने बच्चों को बसिक विद्यालय में नहीं भेजते हैं। उन्हें व्यक्तिगत स्कूलों में या पब्लिक स्कूलों में भेजते हैं।

(3) अभिभावकों का दृष्टिकोण--

अध्यापकों का कथन है कि वे अपने बच्चों को स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजते हैं न कि कताई-बुनाई या कृषि कार्यों के लिये। यह कार्य उनके विचार से वे घर पर ही कर सकते हैं।

(4) विद्यालय भवनों का अभाव--

इसकी असफलता का एक प्रमुख कारण विद्यालय भवनों का न होना है।

(5) शिक्षकों का अभावग्रस्त जीवन--

अध्यापक अल्प वेतन भोगी है। आर्थिक दशा खराब होने से वे शिक्षण कार्य को पूरे मनोयोग से निष्ठा तथा योग्यता से नहीं कर पाते हैं।

(6) उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों एवं शिक्षण सामग्री का अभाव--

उचित पुस्तकों एवं शिक्षण सामग्रियों के अभाव के फलस्वरूप बेसिक शिक्षा के विकास के मार्ग में बाधाएं उपस्थित हो गई हैं।

मूल्यांकन के प्रश्न--

लघु उत्तरीय--

उपरोक्त के आधार पर निम्न प्रश्नों के उत्तर दीजिये--

बेसिक शिक्षा से सम्बन्धित नीचे लिखे जो कथन सही हों उनपर √ का निशान और जो अशुद्ध हों उन पर × का निशान लगाइये :--

(1) शिक्षा का केन्द्र हस्तशिल्प है।

(2) यह व्यय साध्यम प्रणाली है।

(3) इसमें पुस्तकीय ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता है।

(4) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा है।

(5) यह बालक में समाजोपयोगी गुणों का विकास करती है।

(6) यह कुछ दार्शनिकों के कोरे दर्शन पर आधारित है।

(7) शारीरिक श्रम बेसिक शिक्षा प्रणाली का आवश्यक अंग है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न--

1--बेसिक शिक्षा का प्रादुर्भाव महात्मा गांधी के ऊपर लिखे विचारों के परिणाम स्वरूप हुआ। इस पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

2—बेसिक शिक्षा का जन्म किन परिस्थितयोंवश हुआ, उनका उल्लेख कीजिये ?

3—'बेसिक शिक्षा जीवन के द्वारा जीवन की शिक्षा है' । इसको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिये ।

4—बेसिक शिक्षा प्रणाली के दार्शनिक व आर्थिक आधारों का उल्लेख कीजिये ।

5—नवीन बेसिक शिक्षा पद्धति में प्रयुक्त निम्न शब्दों की संक्षेप में व्याख्या कीजिये :

कार्य परक, परियोजना, उत्पादक, समवाय ।

6—कुछ ऐसे श्रम परक समाजोपयोगी उत्पादक कार्यों की सूची बनाइये जो समाज की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विद्यालय में चलाये जा सकते हैं ।

पाठ--7

वर्तमान भारतीय शिक्षा के उद्देश्य

प्रस्तावना—

प्रत्येक राष्ट्र की शिक्षा-व्यवस्था किन्हीं सुनिश्चित राष्ट्रीय लक्ष्यों और आदर्शों पर आधारित और उन्हीं की प्राप्ति के लिये निर्मित होती है। स्वतन्त्रता के पश्चात् हमने एक नवीन भारत के निर्माण का संकल्प लिया। भारतीय गणतन्त्र की स्थापना हुई और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों--सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक इत्यादि के कार्यों के संचालन हेतु हमने अपने देश का एक संविधान निश्चित किया। लोकतंत्र धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, विज्ञान और टेक्नालाजी के सर्वोत्तम उपयोग के आधार पर एक समृद्ध, सुखी और समुन्नत भारत के निर्माण की सुखद कल्पना की गयी।

राष्ट्रीय जीवन के इन आदर्शों की पूर्ति में ब्रिटिश शासन में निर्मित और प्रचलित शिक्षा व्यवस्था सहायक नहीं हो सकती थी क्योंकि उसका उद्देश्य और आधार ब्रिटिश साम्राज्य के हितों का संरक्षण और संवर्द्धन था। अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अनेक शिक्षा आयोग और समितियों का गठन कर नव-स्वतन्त्र भारत की शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण और राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के निर्माण का प्रयत्न किया गया। इनमें से 1964-66 के कोठारी आयोग ने सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली पर पुनर्विचार कर देश की नवीन आवश्यकताओं और राष्ट्रीय आकांक्षाओं पर आधारित राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के विकास का स्तुत्य प्रयास किया।

वर्तमान भारत के लिये शिक्षा के उद्देश्य के निर्धारण का भी प्रयत्न आयोग ने किया। इस दृष्टि से उसने एक ओर आधुनिक विश्व में हो रही वैज्ञानिक एवं टेक्नालाजिकल प्रगति और तदनुरूप आर्थिक, भौतिक और सामाजिक जीवन में हुये परिवर्तनों को ध्यान में रखना आवश्यक समझा दूसरी ओर अपने देश की परम्पराओं और उनके श्रेष्ठ सांस्कृतिक तत्वों का भी पूरा विचार किया।

आधुनिक सन्दर्भ--हमारी राष्ट्रीय आकांक्षायें एवं आवश्यकतायें

आधुनिक समय में शिक्षा किसी देश की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति और सर्वांगीण विकास का प्रमुख साधन बन गयी है। वस्तुतः जैसे कि कोठारी आयोग का मत है कि हमारे देश के भाग्य का निर्माण हमारे विद्यालय की कक्षाओं में हो रहा है। शिक्षा इस कार्य को सम्पन्न कर सके इस हेतु सावधानीपूर्वक हमें अपनी वर्तमान राष्ट्रीय आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को समझना और तदनुरूप उसके उद्देश्यों का निर्धारण करना होगा।

हमारी सर्वप्रथम आवश्यकता खाद्यान्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर होना है। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिये आधुनिक कृषि साधनों और उत्पादन तकनीकों को अपनाना होगा। आर्थिक दृष्टि से अपने देश के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये नवीन उद्योगों की स्थापना करनी होगी। गरीबी और बेरोजगारी की ज्वलन्त समस्यायें भी हैं जिन्हे हमें दूर करना है। धन के उपयुक्त वितरण की व्यवस्था करना भी आवश्यक है। हम केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि से भी विश्व के समुन्नत राष्ट्रों से बहुत पीछे हैं। अतः अपने सामाजिक दोषों जाति-पांति, ऊंचनीच के भेदभावों से समाज को मुक्त करना है। जन समुदाय में प्रचलित कुरीतियों, अन्धविश्वासों को दूर कर उनमें आधुनिक चिन्तन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना है। पुनः सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना का विकास की आवश्यक है। स्वार्थ, जाति, धर्म-संप्रदाय, प्रान्त, भाषा, क्षेत्र और वर्ग पर आधारित संकुचित

प्रवृत्तियों का निराकरण करके सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित करना है ज्ञान-विज्ञान की उन्नति की ओर भी अभी तक हमारा ध्यान कम है। अतः हमें हर क्षेत्र में विदेशों में हो रहे अध्ययनों और शोधों पर आश्रित रहना पड़ता है। सैकड़ों वर्षों की गुलामी और पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध में हम अपने शाश्वत राष्ट्रीय सांस्कृतिक मूल्यों को विस्मृति कर रहे हैं जबकि मौलिकता की दौड़ और प्रतिस्पर्धा में विश्व के सबल राष्ट्रों के बीच में जो संघर्ष और तनाव दिखाई देते हैं उसमें भारत के शान्ति और अहिंसा के संदेश ही एकमात्र त्राण के उपाय हैं। हमने शासन प्रणाली के रूप में लोकतन्त्र को अपनाया है परन्तु लोकतांत्रिक मूल्यों को जीवन में नहीं उतार सके जिससे हमारा लोकतन्त्र एक मखौल बन कर रह गया है।

आधुनिक संदर्भ में शिक्षा के राष्ट्रीय आदर्श--

वस्तुतः इनमें से कोई भी ऐसी समस्या नहीं है जिसका समाधान शिक्षा द्वारा न हो सके। इन समस्त आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति की दृष्टि से भारत की राष्ट्रीय शिक्षा के निम्नलिखित आदर्शों का निर्धारण कोठारी आयोग द्वारा किया गया है।

(1) कृषि एवं औद्योगिक उन्नति करके राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि करना--

जिससे गरीबी, आर्थिक पिछड़ापन, बेरोजगारी दूर हो और साथ ही सामाजिक दृष्टि से भी लोगों का स्तर ऊंचा उठे।

(2) सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता को दृढ़ बनाना--

अर्थात् सामाजिक कुरीतियों व भेदभावों को दूर किया जा सके और जाति संप्रदाय, क्षेत्र व वर्ग के संकुचित विचारों से ऊपर उठकर लोग राष्ट्रीयता की भावना से भरकर उसकी रक्षा और उन्नति के लिये एक जुट हो सकें।

(3) जनतान्त्रिक प्रणाली को दृढ़ बनाना--

शासन प्रणाली के रूप में लोकतंत्र को दृढ़ और स्थायी बनाने के साथ-साथ जन मन में जनतान्त्रिक मूल्यों को विकसित करना।

(4) आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तेज करना--

लोगों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने, उन्हें नवीन श्रेष्ठ विचारों, व्यवस्थाओं को स्वीकार करने के लिये तत्पर बनाने में शिक्षा को अपनी भूमिका निभानी होगी। भारत के परम्परागत समाज को एक आधुनिक समाज में बदलने के लिये आवश्यक है कि उनके पुराने सड़े-गले विचारों, विश्वासों को दूर कर वैज्ञानिक रीति से सोचने, विचारने, निर्णय करने के योग्य बनाया जाय तथा दैनिक व्यवहार और उत्पादन के आधुनिक साधनों और तरीकों की जानकारी दी जाय।

(5) सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का पोषण करके व्यक्तियों का चरित्र निर्माण करना--

इस कार्य में हमारी भारतीय परम्परा के श्रेष्ठ तत्व हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं।

शिक्षा--व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया

यह निर्विवाद है कि शिक्षा व्यक्ति एवं समाज के सर्वांगीण विकास और उन्नयन की प्रक्रिया है। डा० अदावल शिक्षा की परिभाषा करते हुये लिखते हैं--'शिक्षा वह सविचार प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति के विचार और व्यवहार में परिवर्तन और परिवर्द्धन होता है उसके अपने और समाज के उन्नयन के लिये वर्तमान लोकतान्त्रिक युग में व्यक्ति का महत्व

बहुत अधिक माना गया है । शिक्षा उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का साधन मानी गई है । इसके द्वारा बालक का पूर्ण शारीरिक, बौद्धिक, संवेगात्मक एवं नैतिक आध्यात्मिक विकास होना चाहिये । इस विकास में जहां एक ओर बालक की जन्मजात क्षमतायें, रुचियां और प्रकृति अपनी भूमिका अदा करती है वहां सामाजिक परिवेश और वातावरण का भी अति-महत्वपूर्ण योगदान होता है । बालक को आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पूर्वक खेलने-कूदने, रुचि के अनुसार विविध अनुभव और क्रियाकलाप के अवसर देने से बालक की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास होता है और वह आत्मसंतोष तथा आत्मपूर्णता का अनुभव करता है ।

किन्तु बालक के व्यक्तित्व का समुचित विकास तभी कहा जा सकता है जब वह शिक्षा ग्रहण कर समाज की सेवा और उसके विकास के लिये सचेष्ट हो। अतः शिक्षा व्यक्तित्व के विकास के माध्यम से वस्तुतः सामाजिक विकास की प्रक्रिया है।

आत्मानुभूति--व्यक्ति एवं समाज का समन्वित विकास वैयक्तिकता के विकास से समाज का विकास :— अध्याय 4 में यह भलीभांति स्पष्ट किया जा चुका है कि वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य परस्पर पूरक हैं । इनमें जो विरोध दिखाई देता है वह है नहीं और इन दोनों का परस्पर समन्वय हो जाता है ।

व्यक्ति के विकास में समष्टि जीवन का महत्व—

व्यक्तित्व का विकास और अन्तर्निहित शक्तियों का प्रकटीकरण समाज में रहकर और उसके सहयोग, उसके द्वारा प्राप्त उत्तम संस्कारों से ही संभव है । समाज से पृथक् व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती । सच तो यह है कि व्यक्ति स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है । रास ने इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक शिक्षा सिद्धान्त की भूमिका में जो निष्कर्ष दिया है वह उल्लेखनीय है । "सामाजिक वातावरण से विलग वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं है । आत्मानुभूति को केवल समाज सेवा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

अतः हम ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वर्तमान भारत में हमें शिक्षा के फलस्वरूप ऐसे नागरिकों का निर्माण करना है जिनके व्यक्तित्व का उनकी जन्मजात रुचि एवं क्षमता के अनुरूप पूर्णतम विकास हुआ हो और जो समाज सेवा की प्रेरणा से भरकर उसके विविध क्षेत्रों में अपनी योग्यता के अनुरूप उपयुक्त स्थान ग्रहण कर सुचारु रूप से कर्तव्यों का पालन कर सके और समाज के विकास में अपना अत्यधिक योगदान कर सकें ।

वर्तमान भारतीय शिक्षा के महत्वपूर्ण आदर्श—

कोठारी आयोग के अनुसार वर्तमान भारतीय शिक्षा का एक महत्वपूर्ण आदर्श लोकतान्त्रिक शासन पद्धति के दृढ़ीकरण द्वारा सर्वसाधारण के जीवन में लोकतान्त्रिक मूल्यों को प्रतिष्ठापित कर सके ।

लोकतन्त्रीय नागरिकता का विकास करना—

लोकतन्त्र का अर्थ केवल जनता द्वारा चुने हुये माध्यम से सरकार बनाना और शासन संचालित करना नहीं है । लोकतन्त्र जीवन की एक प्रणाली है जिसके मूलभूत सिद्धान्त हैं—समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व । लोकतन्त्र में जाति, वर्ण, धर्म, क्षेत्र इत्यादि के आधार पर किसी प्रकार का पक्षपात किये बिना सबको विकास एवं उन्नति के समान अवसर मिलते हैं । व्यक्ति की गरिमा और उसकी स्वतंत्रता लोकतन्त्र का दूसरा स्तम्भ है । व्यक्ति को विचार एवं निर्णय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता लोकतन्त्र में होती है । इसके अतिरिक्त लोकतन्त्र के नागरिकों में परस्पर भ्रातृत्व का भाव पाया जाता है तथा एक दूसरे के सुख-दुख में सहायक होते हैं ।

आधुनिक युग में लोकतन्त्र विश्व की सर्वमान्य शासन और जीवन की प्रणाली है । अनेक प्रयोगों के पश्चात् मानव जाति ने लोकतांत्रिक पद्धति का विकास किया है । सरकार के निर्माण, आपसी विवादों को निपटाने, विकास और निर्माण के लिये योजनायें बनाने तथा पारिवारिक, सामुदायिक, आर्थिक एवं धार्मिक सभी क्षेत्रों में शारीरिक बल, हिंसा या दबाव के

आधार के बदले परस्पर वार्तालाप एवं विचार-विमर्श द्वारा निर्णय लिये जाते हैं। बहुमत का आदर किया जाता है। साथ ही अल्पमत को भी उचित सम्मान दिया जाता है। लोकतन्त्र समाज जीवन के संचालन की सद्भावनापूर्ण एवं अहिंसात्मक पद्धति है।

लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली को अपनाकर हमें जनता के आर्थिक स्तर को सुधारना व उसकी गरीबी दूर करना, सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था करना होगा। इसके लिये विद्यालयी और अनौपचारिक शिक्षा का विकास करना होगा।

शिक्षा जनतान्त्रिक मूल्यों के विकास में सहायक हो सके इसके लिये आवश्यक है कि विद्यालय का वातावरण एवं संगठन जनतान्त्रिक शैली पर हुआ हो तथा उत्तरदायित्वों का विकेन्द्रीकरण किया जाय। पाठ्यक्रम एवं क्रियाकलापों का चयन 'जनतांत्रिक मनोवृत्ति में सहायक हो, इसके अतिरिक्त शैक्षणिक एवं प्रशासनिक कार्य संचालन की दृष्टि से विविध समितियों, छात्रसंघों इत्यादि का निर्माण किया जाय और उनकी कार्यविधि जनतान्त्रिक आदर्श पर संचालित की जाय। शिक्षक भी कक्षा-शिक्षण एवं अन्य क्रियाओं के संचालन में छात्रों का सक्रिय सहयोग लें। शिक्षा के प्रत्येक कार्य में निष्पक्षता तथा समदृष्टि अपनाई जाय तथा छात्रों को उत्तरदायित्व तथा सहयोग के गुण सिखाने के लिये समाज-सेवा के कार्यक्रम श्रमण, शिविर आयोजन तथा विद्यालय के उत्सव मनायें जायं।

समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षता के आदर्श--

वर्तमान भारत में समाजवाद एवं धर्मनिरपेक्षता को महत्वपूर्ण आदर्शों के रूप में स्वीकार किया गया है। महात्मा गांधी के सर्वोदय की कल्पना 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के प्राचीन आदर्श के समाजवाद के मूल विचारों में निहित है। संपत्ति कुछ हाथों में सीमित न होकर देश की समृद्धि एवं सुविधाओं का लाभ सबको मिले यही भारतीय संदर्भ में समाजवाद का अर्थ है। इस प्रकार पर दुःख कातरता, अपरिग्रह और समाजहित के लिये त्याग की वृत्ति विकसित करना शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये।

धर्मनिरपेक्षता का वास्तविक अर्थ है धार्मिक सहिष्णुता एवं सर्व धर्म-सम भाव। सभी धर्मों के मूल उपदेश और सिद्धान्त लगभग समान हैं। उनमें तात्त्विक अन्तर बहुत कम है। केवल उपासना की पद्धति में ही मतभेद और विवाद है।

अतः धर्मनिरपेक्ष दृष्टि विकसित करने के लिये सर्वप्रथम सभी धर्मों की मूलभूत एकता पर हमारे विद्यालयों में बल दिया जाना चाहिये। धर्म संप्रदाय के आधार पर शिक्षा-संस्थाओं का संचालन या छात्रों के प्रवेश, शिक्षकों की नियुक्ति इत्यादि में भेदभाव धर्म निरपेक्षता की भावना में बाधक है। विभिन्न धर्मों के मूलभूत सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन कराकर इस मूलभूत समानता का हृदयंगम कराया जा सकता है। इस दृष्टि से अध्यापकों का साम्प्रदायिक भावना से मुक्त होना सर्वोपरि महत्व का है।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी दृष्टिकोण का विकास, आर्थिक विकास तथा सामाजिक चिंतन और मूल्यों में परिवर्तन :--विश्व में आज जो भी प्रगति हुई यह विज्ञान और टेकनालाजी पर आधारित है। भारत को भी यदि अपने आर्थिक औद्योगिक विकास के लक्ष्य को पूरा करना है तो उसे विज्ञान और टेकनालाजी को विकास के अनिवार्य साधनों के रूप में अपनाना होगा। इसी से कृषि एवं उद्योग, यातायात एवं संचार, भवन निर्माण, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सैनिक एवं सुरक्षा साधन, शिक्षा एवं प्रसार सभी क्षेत्रों में राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तर पर विज्ञान और टेकनालाजी का उपभोग करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है किन्तु अभी यह उपयोग सीमित और अपर्याप्त है। इस दिशा में देश का और अधिक वेग से आगे बढ़ना युग की अनिवार्य आवश्यकता है।

न केवल भौतिक, आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने में बल्कि मनुष्य के चिन्तन और दृष्टिकोण का भी परिवर्तित करने में भी विज्ञान ने अपनी भूमिका निभायी है। मानव-जाति के लिये विज्ञान का यह पक्ष भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इसीलिये केवल विज्ञान, इंजीनियरिंग और टेकनालाजी के कुछ विशेषज्ञों का निर्माण करके ही संतोष नहीं किया जा सकता बल्कि समाज

के हर सदस्य को विज्ञान और तकनीकी शिक्षा एक निश्चित मात्रा अथवा स्तर तक देना आवश्यक है । जैसा कि फिलिप्स एच0 कूम्बस लिखते हैं "देश को केवल कुछ वैज्ञानिकों और तकनीकों की ही आवश्यकता नहीं है बल्कि विशाल जनसमुदाय को वैज्ञानिक और तकनीकी दृष्टि से सामान्य रूप से शिक्षित करने की आवश्यकता है ।"

सम्भवतः इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर कोठारी आयोग ने कक्षा 10 तक सामान्य रूप से विज्ञान और गणित विषयों को पाठ्यक्रम में अनिवार्य रूप में सम्मिलित करने पर बल दिया है । आयोग का विश्वास है कि ऐसा करने से एक ओर हमारे युवक विज्ञान आधारित नवीन संसार में कुशलतापूर्वक जीवन यापन के योग्य बन सकेंगे, दूसरी ओर उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो सकेगा । अंधविश्वासों से वे ऊपर उठेंगे, सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों का अन्त होगा, तर्क प्रयोग एवं विचारपूर्वक कार्य और निर्णय करने की क्षमता बढ़ेगी तथा उनमें एक गतिशील मन-मस्तिष्क का विकास होगा और अपनी संस्कृति के आचार-विचारों में से नीर-क्षीर विवेक के अनुसार श्रेष्ठ तत्वों को स्वीकार करेंगे और पुराने समयातीत विचारों को त्याग सकेंगे ।

वस्तुतः जब विज्ञान एवं प्रविधि द्वारा हमारे भौतिक, आर्थिक, जीवन में परिवर्तन हो रहा है तो इन परिवर्तनों का प्रभाव हमारी सामाजिक व्यवस्था और मूल्यों पर सम्भवतः पड़ेगा । आज ये परिवर्तन हमें परिवार, जाति प्रथा, धार्मिक कर्मकांडों, विवाह आदि संस्कारों एवं विविध आचार-विचारों में दृष्टिगोचर होने लगे हैं । किन्तु ये परिवर्तन बाह्य अधिक हैं, आन्तरिक नहीं । विचारों, प्रवृत्तियों और दृष्टिकोणों में अन्तर लाने का महान उत्तरदायित्व हमारी विद्यालयी शिक्षा पर है ।

किन्तु सामाजिक जीवन के आधुनिकीकरण के प्रयत्न में हमें भारतीय जीवन के चिरन्तन सांस्कृतिक मूल्यों को त्याग नहीं देना है । वे मूल्य न केवल हमारे वर्तमान जीवन को बल्कि सारे संसार को प्रकाश दे सकते हैं । भारतीय संस्कृति का निष्काम कर्मयोग या निःस्पृहता का आदर्श, भौतिकता और आध्यात्म के समन्वय का धार्मिक आदर्श, व्यक्ति एवं समाज के समन्वित उत्कर्ष का आदर्श, अपरिग्रह एवं त्यागपूर्वक भोग का आदर्श, सत्य एवं अहिंसा का आदर्श ऐसे जीवनादर्श हैं जो प्राचीन एवं परम्परागत होते हुये भी चिरनवीन और आधुनिक हैं । शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य इन भारतीय जीवन-मूल्यों को विकसित करना, होना चाहिये ।

पाठ--8

प्रारम्भिक स्तर पर पाठ्यक्रम निर्माण के सिद्धान्त

पाठ्यक्रम का अर्थ--

पाठ्यक्रम निर्माण की समस्या एक प्रश्न विश्वव्यापी है प्रायः यह कहा जाने लगा है कि "पाठ्यक्रम अधूरा एवं पुराना है और वर्तमान समाज की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर नहीं बनाया गया है। अतएव आवश्यक है कि सर्व प्रथम पाठ्यक्रम का अर्थ जान लिया जाय।

पाठ्यक्रम को अंग्रेजी भाषा में "करीक्यूलम" शब्द से सम्बोधित किया गया है करीक्यूलम शब्द की उत्पत्ति लेटीन भाषा के एक शब्द से हुई है जिसका अर्थ होता है--"दौड़ का मार्ग" यह एक दौड़ का मैदान है जिस पर व्यक्ति लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दौड़ता है करीक्यूलम के लिए दूसरा शब्द "कोर्स आव स्टडी" का भी प्रयोग किया जाता है। इस 'कोर्स' शब्द मार्ग का पर्यायवाची है अतः मूल उद्गम से ही पाठ्यक्रम का तात्पर्य उस मार्ग से है जो शिक्षा को लक्ष्य तक पहुंचाता है। प्रायः सिलेबस और पाठ्यक्रम को लोग एक ही समझा करते हैं, किन्तु दोनों के अर्थ भिन्न हैं। सिलेबस के अन्तर्गत केवल शैक्षणिक क्रिया कलाप ही आते हैं। इस भांति सिलेबस पाठ्यक्रम का ही भाग है। पाठ्यक्रम में केवल शैक्षणिक क्रियायें ही नहीं अपितु वरन् वे सभी अनुभव आते हैं जो एक विद्यार्थी विभिन्न क्रिया-कलापों स्कूल, पुस्तकालय, वाचनालय, प्रयोगशाला, खेल के मैदान एवं शिक्षक के साथ वार्तालाप आदि के द्वारा ग्रहण करता है। आर० के० बर्ट के अनुसार "विस्तृत अर्थ के अन्तर्गत विद्यालय का सम्पूर्ण वातारण आता है जिनमें सभी विषय, क्रियायें, शिक्षण-कार्य और सहकार्य सम्मिलित हैं, जिनको बालकों के लिये आयोजित किया जाता है।"

बनिघम के मतानुसार "पाठ्यक्रम शिक्षक के हाथ में एक साधन है जिससे वह अपने शिष्य को अपने आदर्श के अनुसार विद्यलय में चित्रित करता है।"

माध्यमिक शिक्षा आयोग--के अनुसार "पाठ्यक्रम का अर्थ केवल सैद्धान्तिक विषयों से नहीं है जो विद्यालय में परम्परागत रूप से पढ़ाये जाते हैं वरन् इनमें अनुभवों की सम्पूर्णता सम्मिलित है जिसको बालक अनेक क्रियाओं द्वारा प्राप्त करता है जो कि विद्यालय में की जाती है जैसे अध्ययन कक्ष, पुस्तकालय वर्कशाप, खेल का मैदान और छात्रों के मध्य अनेक अनौपचारिक सम्पर्कों आदि से। इस प्रकार विद्यालय का सम्पूर्ण जीवन पाठ्यक्रम हो जाता है जो छात्रों के जीवन के सभी पक्षों के सम्पर्क में आ सकता है तथा सन्तुलित व्यक्तित्व के विकास में सहायक हो सकता है।"

अतएव यह कहा जा सकता है कि पाठ्यक्रम वह दर्पण है जिसमें शिक्षा के उद्देश्य स्पष्ट झलकते हैं, जिसके द्वारा देश की सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक स्थिति और उसकी आवश्यकतायें प्रतिबिम्बित होती हैं तथा छात्र के विभिन्न स्तरों, उनकी व्यक्तिगत अभिरुचियों, अनुभवों और क्रियाओं का स्पष्ट रूप से आभास होता है।

पाठ्यक्रम का महत्व--

पाठ्यक्रम में सीखने वाले के सभी अनुभव में समस्त अनुभव एक कार्यक्रम का रूप लेते हैं जो बालक को शारीरिक रूप से, मानसिक रूप से, संवेगात्मक रूप से तथा सामाजिक रूप से विकसित करते हैं जिससे बालक की शिक्षा में अत्यधिक महत्व है।

पाठ्यक्रम का महत्व इस प्रकार है :--

(1) वह अथाह ज्ञान सागर में पथ-प्रदर्शन कर सके।

(2) पाठ्यक्रम से यह लाभ होता है कि छात्र एवं अध्यापक को यह मालूम हो जाता है कि उन्हें कितने समय के भीतर कितना काम करना है। वे अपनी शक्ति को बचत कर लेते हैं।

(3) छात्रों को यह ज्ञान हो जाता है कि उन्हें कितनी विषयवस्तु कितने समय में पढ़नी है।

(4) पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ाने से एक क्रम बना रहता है जिससे शिक्षण कार्य में समय की बचत होती है।

(5) अध्यापक का भी कार्य सरल हो जाता है। उसे यह ज्ञात रहता है कि कितना और क्या पढ़ाना है।

(6) पाठ्यक्रम के द्वारा हमारे पूर्वजों द्वारा संचित ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता रहता है।

(7) मस्तिष्क को यह ज्ञात रहता है कि कितना अनुभव एवं ज्ञान विद्यार्थी को है और उसी के अनुसार वह प्रश्नों-पत्र का निर्माण करता है।

(8) लेखक की दृष्टि से भी पाठ्यक्रम का महत्व एवं उपयोगिता है। इससे उसे पाठ्यपुस्तक लिखने में सहायता मिलती है।

शिक्षा प्रदान करने में सबसे महत्वपूर्ण स्थान पाठ्यक्रम का है। यदि पाठ्यक्रम का योजन व्यवस्थित ढंग से होता है तो शिक्षक शिक्षा के उद्देश्य प्राप्त करने में सफल होता है। तभी तो ब्रिग्स ने लिखा है "शिक्षा में आधारभूत समस्या पाठ्यक्रम है"। वास्तव में पाठ्यक्रम की समस्या एक दार्शनिक समस्या है। शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाता है। पाठ्यक्रम जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

पाठ्यक्रम निर्माण के मूलभूत सिद्धान्त--पाठ्यक्रम केवल कुछ विषयों का संकलन नहीं बल्कि यह जीवन के समस्त अनुभवों से सम्बन्ध रखता है। ऐसी दशा में पाठ्यक्रम का निर्माण दो तथ्यों पर निर्भर करता है--प्रथम क्या पढ़ाया जाय ? पाठ्य वस्तु क्या हो तथा पाठ्य वस्तु का संगठन किस प्रकार किया जाय ? इन बातों को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम निर्माण सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :--

-दार्शनिक आधार का सिद्धान्त :--

इसका तात्पर्य यह है कि पाठ्य वस्तु एवं सामग्री दार्शनिक विचारधाराओं से प्रभावित है। आदर्शवाद के अनुसार पाठ्यक्रम में मानवजाति के समस्त अनुभवों का समावेश होना चाहिए। इसमें मानव-संस्कृति सभ्यता, आदर्श भौतिक एवं आध्यात्मिक वातावरण से सम्बन्धित विषय होते हैं। प्रकृतिवाद के अनुसार पाठ्यक्रम बालक की रुचियों, योग्यताओं, आवश्यकताओं से प्रभावित हैं। इसमें व्यक्तिगत भिन्नता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। यथार्थवाद के अनुसार वर्तमान वास्तविक जीवन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम तैयार किया जाता है, एवं पाठ्य विषय से विज्ञान एवं तकनीकी को महत्व दिया गया है। प्रयोगवादियों ने पाठ्यक्रम में समाजोपयोगी विषयों का समावेश किया। इसके साथ जीवन के अनुभवों, स्वाभाविक रुचियों एवं क्रिया शीलता पर बल दिया।

-मनोवैज्ञानिक आधार का सिद्धान्त--

इसका तात्पर्य बालक की आयु, योग्यता, रुचि तथा अभिरुचि, और आवश्यकताओं के आधार पर पाठ्यक्रम की रचना करनी चाहिए। शारीरिक, मानसिक, भावात्मक विशेषताओं को समान रूप में महत्व दिया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम का निर्माण बालक की विभिन्न अवस्थाओं

को ध्यान में रखते हुए करना उपयुक्त होगा । इस विचारधारा के फलस्वरूप पाठ्यक्रम के अन्तर्गत खेल, निरीक्षण, अनुभव एवं बालक के विभिन्न क्रियाओं को महत्व दिया गया । वास्तव में इस विचारधारा का बीजारोपण 18वीं शताब्दी में रूसो ने किया था एवं क्रमशः इसका समर्थन पेस्टालाजी फ्रावेल, मान्टेसरी, गांधी, टैगोर आदि ने भी किया । जान्स डी वी के अनुसार बालक में चार प्रकार की स्वाभाविक अभिरुचियां होती हैं--बातचीत तथा विचारों के आदान-प्रदान की रुचि, खोज की रुचि, रचनात्मक कार्यों में रुचि एवं कलात्मक अभिव्यक्ति की रुचि । अतः प्रारम्भिक स्तर का पाठ्यक्रम बालक की इन विभिन्न रुचियों को ध्यान में रखते हुए निर्मित किया जाना चाहिए । मौखिक शिक्षा तथा हस्त कौशल की भी प्रधानता होनी चाहिये । पाठ्यक्रम निर्माण में क्रियाओं की उपयोगिता का भी महत्व है । सभी क्रियाओं को अनुभव पर आधारित होना चाहिए । क्योंकि अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी होता है । इसके अतिरिक्त पाठ्यक्रम निर्धारण में बालक के सोद्देश्य स्वतन्त्र, सामाजिक क्रियाओं का भी योगदान है । पाठ्यक्रम के अन्तर्गत अन्य विषयों के बीच समन्वय (Correlation) किया जाना आवश्यक है ।

3--सामाजिक आधार का सिद्धांत--सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु छात्रों को सक्षम बनाना आवश्यक है । बालक एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रह कर वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता है । अतएव पाठ्यक्रम को बनाते समय बालक के जीवन में व्यावहारिक पक्ष का भी ध्यान दिया जाना चाहिये । समाज की समस्त क्रियायें विद्यालय में लघु रूप में परिलक्षित होनी चाहिये जिससे बालक अपने भावी जीवन में सफल हो सके । आज का बालक भावी समाज का नागरिक होगा और राष्ट्र का कर्णधार होगा ।

इसके अन्तर्गत निम्न सिद्धांत भी आते हैं--

(अ) सहयोग तथा सामाजिकता का विकास--पाठ्यक्रम में ऐसे विषय रखें जायें जिससे बालकों में सामाजिकता की भावना का विकास हो ।

(ब) स्वस्थ राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास--पाठ्यक्रम में ऐसे विषय रखे जायें जिससे बालकों में भावात्मक एकता, राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की सद्भावना का विकास प्रारम्भ हो सके ।

(स) सामाजिक विषयों में सह-सम्बन्ध--पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि इसमें सम्मिलित सामाजिक विषय जैसे भूगोल, इतिहास, नागरिकशास्त्र आदि में सह सम्बन्ध होना चाहिये ।

पाठ्यक्रम निर्माण में उपर्युक्त सिद्धांतों के अतिरिक्त निम्नलिखित सिद्धान्तों को भी ध्यान में रखना चाहिये--

1--उपयोगिता का सिद्धान्त ।

2--सृजनात्मक उपलब्धि का सिद्धान्त ।

3--अच्छी आदतों के निर्माण का सिद्धान्त ।

4--विकास के सतत् क्रिया का सिद्धान्त ।

5--जीवन सम्बन्धी समस्त क्रियाओं का सिद्धान्त ।

6--पाठ्यक्रम विस्तृत होने का सिद्धान्त ।

7--स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति का सिद्धान्त ।

8--पाठ्यक्रम लचीला होने का सिद्धान्त ।

9--पाठ्यक्रम जटिल न होने का सिद्धान्त ।

10--सह-सम्बन्ध का सिद्धान्त ।

ाठ्यक्र.. त दोष--

1--वर्तमान पाठ्यक्रम निरुद्देश्य, संकुचित एवं अव्यवस्थित है। इसमें पुस्तकीय एवं द्धान्तिक बातों पर विशेष बल दिया गया है तथा व्यावहारिक शिक्षा का अभाव है। पाठ्य स्तु में अनावश्यक विस्तार तथा पाठ्य विषयों की बहुलता है। वास्तविक जीवन में इसकी ा कोई उपयोगिता है और न इससे कोई लाभ है।

2--वर्तमान पाठ्यक्रम जटिल, दुरूह एवं एकांगी है। इसमें बालक की व्यक्तिगत वशेषताओं एवं विभिन्नताओं की अवहेलना है। यह बालक की आयु, योग्यता, रुचि, भिरुचि, अनुभव एवं क्रिया को ध्यान में रखकर नहीं निर्मित किया गया है।

3--पाठ्यक्रमों में ऐसे विषयों का अत्यधिक अभाव है जिससे बालकों में कलात्मक एवं ौन्दर्यानुभूति के गुणों का विकास हो सके।

4--पाठ्यक्रम धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा के विषय में मूक है जिसके कारण चारित्रिक तन हो रहा है।

5--पाठ्यक्रम अनुभव एवं क्रिया केन्द्रित नहीं है। इसमें व्यावसायिक एवं औद्योगिक षयों का समावेश नहीं है। इसमें शारीरिक श्रम को कोई महत्व नहीं दिया गया है सके कारण बालक श्रम को हेय दृष्टि से देखता है एवं उसका विकास सर्वांगीण रूप से हीं हो पाता।

6--वर्तमान पाठ्यक्रम परीक्षा के भार से बोझिल है जिसके कारण शिक्षा-शिक्षा के लए न होकर परीक्षा पास होने के लिए हो गयी है। इसके कारण बालक के अन्तर्निहित क्तियों को विकसित होने हेतु उचित वातावरण ही नहीं मिल पाता। यह बालक के शारीरिक, ानसिक, बौद्धिक, नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि जीवन के विभिन्न पक्षों का समुचित विकास करने में असमर्थ है।

ारम्भिक स्तर पर पाठ्यक्रम निर्माण के सिद्धान्त--

वर्तमान समय में प्राथमिक विद्यालयों में जो पाठ्यक्रम चल रहा है उनका निर्माण विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर हुआ। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :--

--आवश्यकता का सिद्धान्त--

इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत तथा सामाजिक दो प्रकार की आवश्यकतायें सम्मिलित हैं। माज की मांग के कारण ही यह पाठ्यक्रम कौशलकेन्द्रित बनाया गया है।

--अनिवार्यता का सिद्धान्त--

इससे तात्पर्य है बालक की सभी क्रियाओं का समावेश जैसे--3 R

--जीवन से सम्बन्धित होने का सिद्धान्त--

हस्तकौशल के विषयों के माध्यम से जीविका प्राप्त करने में सहायता प्रदान करना।

--स्वास्थ्य तथा नैतिकता के विकास का सिद्धान्त--

इसके अन्तर्गत स्वास्थ्य शिक्षा एवं आचरण सम्बन्धी ज्ञान का समावेश किया जाता है।

--सह सम्बन्ध का सिद्धान्त--

हस्तकौशल को केन्द्रीय विषय बना कर अन्य विषयों का ज्ञान दिया जाता है।

6—क्रियाशीलता, लचीलापन तथा उपयोगिता का सिद्धान्त—

पाठ्यक्रम रचना में ये तीनों सिद्धान्त अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इसलिए छात्रों द्वारा केवल पाठ्य विषय ही नहीं बल्कि क्रियात्मक कार्य भी कराया जाता है। विभिन्न प्रकार के हस्त कौशल होने से लचीलापन और विभिन्नता का सिद्धान्त लागू होता है। उपयोगी हस्त कौशल रखने से विषय एवं क्रियायें केवल जीवन से सम्बन्धित नहीं होते वरन् वे जीवन में लाभदायक भी होते हैं।

7—विकास का सिद्धान्त—

इसमें शारीरिक, मानसिक, भावात्मक विकास को ध्यान में रखा जाता है। इन्हीं कारणों से विभिन्न पाठ्यविषयों के साथ सामाजिक विषय, खेल-कूद सम्बन्धी क्रियायें भी पाठ्यक्रम में रखी जाती हैं।

प्राथमिकता स्तर पर पाठ्यक्रम—

प्राइमरी कक्षा के लिए पाठ्यक्रम में भाषा, गणित, सामाजिक विषय, कला कौशल, विज्ञान, खेलकूद व शारीरिक शिक्षा एवं नैतिक शिक्षा प्रदान की जाती है।

जूनियर हाई स्कूल में प्राइमरी कक्षा के सभी विषयों के साथ संस्कृत भी है तथा इनके अतिरिक्त कुछ वैकल्पिक विषय भी रखे गये ह जैसे—कला, संगीत, प्रादेशिक भाषा, वाणिज्य आदि।

संदर्भ पुस्तकें—

1—नरेन्द्र बहादुर लाल—बेसिक शिक्षा सिद्धान्त की रूपरेखा।

2—बी० पी० जौहरी एवं पी० डी० पाठक—भारतीय शिक्षा का इतिहास। सं० 1980।

3—मिलाप चन्द्र दूबे—बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त।

4—लक्ष्मी नारायण गुप्त—आधुनिक शिक्षा सिद्धान्त और आधुनिक शिक्षण सिद्धान्त।

5—धीरेन्द्र मजूमदार—नई तालीम।

6—यम० आर० वर्मा—बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त और प्रगति।

7—महेश चन्द्र सिंघल—भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं।

8—N. C. E. R. T. Comprehersive access to primary education.

9—डा० एस० एस० माथुर—शिक्षा सिद्धान्त।

10—बी० सी० राय—शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त। सं० 1980।

संदर्शिका–सृजन हेतु आयोजित कार्यशालाओं के प्रतिभागीगण

1––श्रीमती हमीदा अजीज ।

2––श्री अब्दुल मालिक ।

3––श्री राम चरित्र मिश्र ।

4––श्री अनन्तराम मिश्र ।

5––कु० गोविन्द आनन्द ।

6––श्रीमती सरला खन्ना ।

7––श्री राम कृष्ण गुप्त ।

8––श्री रिपुदमन लाल श्रीवास्तव ।

9––श्री राम किशोर शुक्ल ।

10––श्री जय प्रकाश श्रीवास्तव ।

11––श्री धर्मदेव सिंह ।

12––श्री कृष्ण चन्द्र पाण्डेय ।

13––श्रीमती शिवकुमारी शुक्ला ।

14––श्रीमती शरबती देवी शर्मा ।

Pub. National Systems Unit,
National Institute of Education,
Planning and Administration
17-B,SriAurbindo Marg,New Delhi-16
DOC. No....342.....
Date.....20.7.82

पी० एस० यू० पी०––26 शिक्षा––3–9–81––1,000 (पी० डी०) ।